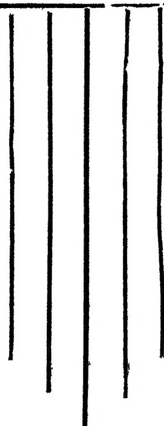
जैनागमों में परमात्मवाद



लेखक—

जैनधर्मदिवाकर, साहित्यरत्न, जैनागमरत्नाकर,
आचार्यसम्राट् परम श्रद्धेय

पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज

प्रकाशक—

आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशनालय

जैनस्थानक, लुधियाना।

प्राप्तिस्थान—
आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशनालय,
जैनस्थानक, लुधियाना

प्रथम प्रवेश
वीरसम्वत् . २४८६
वि० स० ... २०१६
मूल्य ... आठ आना

मुद्रक—
राईज़ आर्ट इलैक्ट्रिक प्रेस,
गली लालूमल, लुधियाना ।

धन्यवाद

"जैनागमो मे परमात्मवाद" के प्रकाशन मे समस्त व्यय करने की उदारता श्रीमती गौरा देवी जी कर रही है। माता श्री गौरा देवी जी यह प्रकाशन अपने पूज्य पतिदेव—

स्वर्गीय लाला नौहरियामल जी जैन

की पुण्यस्मृति मे करवा रही है। लाला नौहरियामल जी धार्मिक विचारो के व्यक्ति थे। लाला जी को यह धार्मिक भावना जैनधर्मदिवाकर, आचार्यसम्राट्, पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज जी के सुशिष्य युगस्रष्टा श्रद्धेय श्री स्वामी खजानचन्द्र जी महाराज के परमानुग्रह से प्राप्त हुई थी। श्रद्धेय महाराज जी की कृपा से ही लाला जी को जैनधर्म की उपलब्धि हुई थी। उन्ही की कृपा से लाला जी सामायिक, नित्यनियम का सदा ध्यान रखा करते थे। धार्मिक, सामाजिक और साहित्यिक कार्यो मे अपने धन का सदा उपयोग करते रहते थे। श्री रामप्रसाद जी, श्री गोवर्धनदास जी, श्री केदारनाथ जी, लाला जी के सुयोग्य पुत्र है। इन मे जो धार्मिकता तथा सामाजिकता दृष्टिगोचर हो रही है, वह सब लाला जी के पुण्य-प्रताप का ही मधुर फल है।

माता श्री गौरा देवी जी बडी उदार प्रकृति की देवी है। धर्मध्यान की इन को अच्छी लग्न है। दानपुण्य मे सदा अपने धन का सदुपयोग करती रहती है। दो वर्ष हुए, योगनिष्ठ श्रद्धेय श्री स्वामी फूलचन्द्र जी महाराज द्वारा लिखे "नयवाद" का प्रकाशन इन्होने ही करवाया था। आचार्यसम्राट् पूज्य श्री

आत्माराम जी महाराज द्वारा विनिर्मित "जैनागमों में परमात्मवाद, का प्रकाशन भी आप ही करवा रही है। आप की इस उदारता के लिए मै आप का धन्यवाद करता हू। और आशा करता हू कि भविष्य मे भी आप इसी भाति साहित्यिक सत्कार्यो मे अपने धन का सदुपयोग करती रहेगी।

प्रार्थी—

मन्त्री—

आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशनालय,

जैनस्थानक, लुधियाना।

दिग्दर्शन

वैदिक-परम्परा मे ईश्वर शब्द—

ईश्वर शब्द वैदिक दर्शन का अपना एक पारिभाषिक शब्द है। वैदिक दर्शन के अनुसार उस महाशक्ति का नाम ईश्वर है, जो इस जगत की निर्मात्री है, एक है, सर्वव्यापक और नित्य है। वैदिक दर्शन का विश्वास है कि ससार के कार्यचक्र को चलाने की बागडोर ईश्वर के हाथ मे है, ससार के समस्त स्पन्दन उसी की प्रेरणा से हो रहे है।

वैदिक दर्शन कहता है कि ईश्वर सर्वशक्तिमान है, वह जो चाहे कर सकता है।*कर्तव्य को अकर्तव्य और अकर्तव्य को कर्तव्य बना देना उस के बाए हाथ का काम है। सारा ससार उस की इच्छा का खेल है, उसकी इच्छा के बिना एक पत्ता भी नही कम्पित हो सकता। ससार का उत्थान और पतन उसी के इशारे पर हो रहा है।

वैदिक दर्शन की आस्था है कि अज्ञ होने के कारण जीव अपने सुख और दु:ख का स्वय स्वामी नही है, †इस का स्वर्ग या नरक जाना ईश्वर की इच्छा पर निर्भर है। मनुष्य कुछ नही कर सकता। उसे तो स्वय को ईश्वर के हाथो मे सौप

---

* कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थ ईश्वर ।

† अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मन सुखदु खयो ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्, स्वर्ग वा श्वभ्रमेव वा ॥

(महाभारत)

देना चाहिए, ईश्वर की कृपा ही उसकी बिगडी बना सकती है।

वैदिक दर्शन का कहना है कि भक्त ईश्वर की कितनी भक्ति कर ले,उपासना करले,कितना ही उसका गुणानुवाद करले, पर भक्त भक्त रहेगा और ईश्वर ईश्वर। भक्ति,पूजा,जप,तप त्याग वैराग्य आदि किसी भी प्रकार के अनुष्ठान के आराधन से भक्त ईश्वर नही बन सकता है। ईश्वर और भक्त के बीच मे जो भेद-मूलक फौलादी दीवार खडी है, वह कभी समाप्त नही हो सकती है।

इस के अलावा, वैदिक दर्शन विश्वास रखता है कि ससार मे जब अधर्म बढ जाता है, धर्म की भावनाए दुर्बल हो जाती है, पाप सर्वत्र अपना शासन जमा लेता है, तो पापियो का नाश करने के लिए तथा धर्म की स्थापना करने के लिए ईश्वर अवतार धारण करता है। मनुष्य, पशु आदि किसी न किसी रूप मे जन्म धारण करता है। यह वैदिक दर्शन के ईश्वर के स्वरूप का सक्षिप्त परिचय है।

जैन-परम्परा और ईश्वर शब्द—

जैन साहित्य का परिशीलन करने से पता चलता है कि उस मे परमात्मा के अर्थ मे ईश्वर शब्द का कही प्रयोग नही नही मिलता है। जैनदर्शन मे परमात्मा के लिए सिद्ध, बुद्ध, अजर,अमर, सर्वदुःखप्रहीण, निरजन, मुक्तात्मा आदि शब्दो का व्यवहार मिलता है। जैन दर्शन की दृष्टि से ये समस्त शब्द पर्यायवाची है, सामान्यतया एक ही अर्थ के वाचक है। मुक्तात्मा के स्वरूप का विवेचन करते हुए भगवान महावीर ने श्री आचाराग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के पञ्चम अध्ययन के

छठे उद्देशक में फरमाया है—

मुक्त आत्मा का स्वरूप प्रतिपादन करने में समस्त शब्द हार मान जाते हैं, वहा तर्क का प्रवेश नही होता है । बुद्धि उसे अवगाहन नही करती है । वह मुक्तात्मा प्रकाश-स्वरूप है । वह समग्र लोक का ज्ञाता है । वह न लम्बा है, न छोटा है, न गोल है (गेन्द के आकार का नही है), न तिकोना है, न चतुष्कोण है और न परिमण्डल है (वलय-चूडी के आकार का नही है)—उस मुक्तात्मा को इन मे से कोई आकृति नही है । वह न काला है, न नीला है, न लाल है, न पीला है और न शुक्ल है—उसका कोई रूप नही है । वह न सुगन्ध वाला है, न दुर्गन्ध वाला है—उस मे कोई गन्ध नही है । वह न तीक्ष्ण (तीखा) है न कटुक है न कसायला है, न खट्टा है और न मीठा है—उस मे कोई रस नही है । वह न कर्कश है, न मृदु है, न भारी है, न हलका है, न ठण्ठा है, न गरम है, न स्निग्ध है और न रूक्ष है—उस मे कोई स्पर्श नही है । वह मुक्तात्मा शरीर-रूप नही है । वह जन्म मरण के मार्ग को सर्वथा पार कर चुका है । वह अनासक्त है-आसाक्ति वाला नही है । वह न स्त्री रूप है, न पुरुष-रूप है, न अन्यथा रूप है अर्थात् न नपुसक रूप है और अवेद है-वेद रहित है । वह समस्त पदार्थो का सामान्य और विशेष रूप से ज्ञाता है । उसे समझाने के लिए कोई उपमा नही है, वह अरूपी सत्ता है—रूप रहित सत्ता वाला है । उस अनिर्वचनीय को किसी वचन के द्वारा नही कहा जा सकता है । वह शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श स्वरूप नही है । शब्द के द्वारा वाच्य (जिस के लिए शब्द का प्रयोग किया जाता है)यही पदार्थ होते है, परन्तु मुक्तात्मा इन मे से कुछ नहीं है, अतः वह अवक्तव्य है ।

जैनदर्शन मे मुक्तात्मा के अर्थ मे ईश्वर शब्द का व्यवहार नही किया जाता है, तथा जैनदर्शन, वैदिकदर्शन द्वारा माने गए ईश्वर का ईश्वरत्व (जगत्कर्तृत्व आदि) भी स्वीकार नही करता है। जैनदर्शन का विश्वास है कि परमात्मा सत्यस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है, आनदस्वरूप है, वीतराग है,सर्वज्ञ है,सर्वदर्शी है। परमात्मा का दृश्य या अदृश्य जगत मे प्रत्यक्ष या परोक्ष कोई हस्तक्षेप नही है, वह जगत का निर्माता नही है, भाग्य का विधाता नही है, कर्म-फल का प्रदाता नही है, तथा अवतार लेकर वह ससार मे आता भी नही है।

जैनदर्शन कहता है कि व्यक्ति की अपेक्षा से परमात्मा एक नही है,अनन्तजीव परमात्मपद प्राप्त कर चुके है। परमात्मा अनादि नही है। परमात्मा को अनादि न मानने का इतना ही अभिप्राय है, कि जीव कर्मो को क्षय करने के अनन्तर ही परमात्मपद पाता है। परमात्मा एक जीव की दृष्टि से सादि अनन्त है,अनादि काल से जीव मुक्त हो रहे है,और अनन्त काल तक जीव मुक्त होते रहेगे इस दृष्टि से परमात्मा अनादि अनन्त भी है। परमात्मा आत्मप्रदेशो की दृष्टि से सर्वव्यापक नही है। उसके आत्मप्रदेश सीमित प्रदेश मे अवस्थित है, किन्तु उसके ज्ञान से सारा ससार आभासित हो रहा है, इस दृष्टि से (ज्ञान की दृष्टि से) उसे सर्वव्यापक भी कह सकते है। ससार के धन्धे मे उसका कोई हस्तक्षेप नही है। जीव को कर्म करने मे किसी सर्वथा स्वतन्त्र है, परमात्मा जीव कर्म करने मे किसी भी प्रकार की कोई प्रेरणा प्रदान नही करता है। उसे किसी कर्म के करने से वह निषिद्ध भी नही करता। जीव जो कर्म करता है,उसका फल जीव को स्वत. ही मिल जाता है। आत्मप्रदेशो से सम्बन्धित कर्म-परमाणु ही कर्म-कर्ता जीव को स्वय अपना फल दे डालते है। मदिरा मदिरासेवी व्यक्ति पर जैसे

स्वय ही अपना प्रभाव डाल देती है, वैसे ही कर्म-परमाणु जीव को स्वत ही अपने प्रभाव से प्रभावित कर डालते है। परमात्मा का उसके साथ प्रत्यक्ष या परोक्ष कोई सम्बन्ध नही है। कर्मफल पाने के लिए जीव को परमात्मा के द्वार नही खटखटाने पडते है। जीव सर्वथा स्वतत्र है, किसी भी दृष्टि से वह परमात्मा के अधीन नही है। सक्षेप मे कह सकते है—

राम किसी को मारे नही, मारे सो नही राम।
आप ही आप मर जायेगा, करके खोटा काम ।।

जैनदर्शन की आस्था है कि जीव अपने भाग्य का स्वय निर्माता है, स्वर्ग, नरक मनुष्य की सद्-असद् प्रवृत्तियो का परिणाम है। अपनी नय्या को पार करने वाला भी जीव स्वय ही है और उसे डुबोने वाला भी वह स्वय ही है। इस मे परमात्मा का कोई सम्बन्ध नही है।

ऊपर की पक्तियो मे यह स्पष्ट हो गया है कि ईश्वर शब्द वैदिक दर्शन का अपना एक पारिभाषिक शब्द है, जैनदर्शन मे उस के लिए कोई स्थान नही है। वैदिकदर्शन मे ईश्वर शब्द की जो परिभाषा व्यक्त की गई है, जैनदर्शन उस पर कोई आस्था नही रखता है। जैनदर्शन तो सर्वोत्तम और सर्वथा निष्कर्म दशा को प्राप्त आत्मा को ही परमात्मा या सिद्ध या बुद्ध आदि शब्दो के द्वारा प्रकट करता है। ऐसी निष्कर्म आत्मा को वह वैदिक सम्मत ईश्वर के नाम से कभी व्यवहृत नही करता है।

ईश्वर शब्द की व्यापकता—

ईश्वर शब्द की ऐतिहासिक अर्थविचारणा पर विचार करते हुए मालूम होता है कि वैदिकदर्शन के यौवनकाल मे

ईश्वर शब्द एक विशेष अर्थ मे रूढ था। उस समय जगत्-कर्तृत्व आदि विविध शक्तियो की धारक महाशक्ति को ही ईश्वर के नाम से व्यवहृत किया जाता था, किन्तु अन्तिम कुछ शताब्दियो से ईश्वर शब्द सामान्यतया परमात्मा का निर्देशक बन गया है। ईश्वर शब्द का उच्चारण करते ही मनुष्य को सामान्य रूप से परमात्मा का बोध होता है। आज ईश्वर के उच्चारण करने पर जगत् की निर्मात्री, भाग्यविधात्री, कर्मफलप्रदात्री तथा अवतार-ग्रहित्री किसी शक्ति-विशेष का बोध नही होता है। ईश्वर एक है, सर्व-व्यापक है, नित्य है, आदि बातो का भी आज ईश्वर शब्द परिचायक नही रहा है। आज तो ईश्वर शब्द सीधा परमात्मा का निर्देश करवाता हे। फिर चाहे कोई उसे किसी भी रूप मे स्वीकार करता हो। ईश्वर शब्द सामान्य रूप से परमात्मा का निर्देशक होने के कारण ही आजसर्वप्रिय बन गया है। आत्मवादी सभी दर्शनो ने ईश्वर शब्द को अपना लिया है, आत्मवादी सभी दर्शन ईश्वर को आदरास्पद स्वीकार करते है। जैनदर्शन जो सदा अनीश्वरवादी कहा जाता रहा है और जिस ने ईश्वर शब्द को कभी अपनाया ही नही है। तथापि आज उस के अनुयायी सहर्ष ईश्वर का नाम लेते है, अपने को ईश्वरवादी कहने मे जरा सकोच नही करते है। कारण स्पष्ट है कि ईश्वर शब्द आज वैदिकदर्शन का पारिभाषिक शब्द नही समझा जाता है। अब तो सामान्य रूप से वह परमात्मा का, सिद्ध का, बुद्ध का निर्देशक बन गया है। आज ईश्वर, परमात्मा, सिद्ध, बुद्ध, गाड (God), ख़ुदा आदि सभी शब्द समानार्थक समझे जाते है। सैद्धान्तिक और साम्प्रदायिक दृष्टि से इन शब्दो के पीछे

किर्स। का कोई भी पारिभाषिक अभिमत रह रहा हो, किन्तु जनसाधारण इन समस्त शब्दो से सामान्यतया परमात्मा का ही बोध प्राप्त करता है ।

ईश्वर के तीन रूप—

ऊपर की पक्तियो मे स्पष्ट कर दिया गया है, वैदिकदर्शन के यौवनकाल मे ईश्वर शब्द एक विशिष्ट और पारिभाषिक अर्थ का बोधक रहा है, किन्तु अन्तिम शताब्दियो मे इस का वह रूप परिवर्तित हो गया है । अब तो यह सामान्यतया परमात्मा का निर्देशक है । आज सभी आत्मवादी दर्शन ईश्वर को मानते है । कोई आत्मवादी दर्शन ईश्वर की सत्ता से इन्कार नही करता है । सभी इसे सहर्ष स्वीकार करते है ।

सामान्य रूप से सभी आत्मवादी दर्शन ईश्वर को मानते हे, किन्तु सैद्धान्तिक और साम्प्रदायिक दृष्टि से ईश्वर-सम्बन्धी गुणो मे वे थोडा-थोडा मतभेद रखते है । इसी मतभेद को ले कर आज ईश्वर के सम्बन्ध मे तीन विचार-धाराए उपलब्ध होती है । वे तीनो विचारधाराए सक्षेप मे इस प्रकार है—

१—ईश्वर एक है, अनादि है, सर्वव्यापक है, सच्चिदानन्द है, घट-घट का ज्ञाता है, सर्वशक्तिमान है, जगत् का निर्माता है, भाग्य का विधाता है, कर्मफल का प्रदाता है । ससार मे जो कुछ होता है, वह सब ईश्वर के सकेत से होता है । ईश्वर पापियो का नाश करने के लिए तथा धार्मिक लोगो का उद्धार करने के लिए कभी न कभी, किसी न किसी रूप मे ससार मे जन्म लेता है, वैकुण्ठ से नीचे उतरता है और अपनी लीला दिखा कर वापिस वैकुण्ठ-धाम मे जा विराजता है ।

ईश्वर का यह एक रूप है, जिसे आज हमारे सनातनधर्मी

भाई मानते है। ईश्वर का दूसरा रूप नीचे की पंक्तियों में पढिए—

२—ईश्वर एक है, अनादि है, सर्वव्यापक है, सच्चिदानन्द है, घट-घट का ज्ञाता है, सर्वशक्तिमान है, ससार का निर्माता है। जीव कर्म करने मे स्वतन्त्र है, उस मे ईश्वर का कोई हस्तक्षेप नही है। जीव अच्छा या बुरा जैसा भी कर्म करना चाहे कर सकता है, यह उस की इच्छा की बात है, ईश्वर का उस पर कोई प्रतिबन्ध नही है किन्तु जीवो को उन के कर्मो का फल ईश्वर देता है। अपनी लीला दिखाने के लिए, पापियो का नाश करने के लिए और धर्मियो का उद्धार करने के लिए ईश्वर अवतार धारण नही करता है, भगवान से मनुष्य या पशु के रूप मे जन्म नही लेता है।

ईश्वर का यह दूसरा रूप है, जिसे आज कल हमारे आर्य भाई मानते है। ईश्वर का तीसरा रूप भी समझ लीजिए—

३—ईश्वर एक ही नही है,ईश्वर अनेक भी है,अनादि ही नही है, सर्वव्यापक ही नही है, अनन्त शक्तिमान है,घट-घट का ज्ञाता है, द्रष्टा है,जगत का निर्माता नही,भाग्य का विधाता नही,कर्मफल का प्रदाता नही, अवतार लेकर ससार मे आता नही, जीव कर्म करने मे स्वतत्र है, जीवकृत कर्म के साथ ईश्वर का प्रत्यक्ष या परोक्ष कोई सम्बन्ध नही है। जीव की उन्नति या अवनति मे ईश्वर का कोई हस्तक्षेप नही है, अहिसा, सयम और तप की त्रिवेणी मे विशुद्ध मनसा, वाचा और कर्मणा गोते लगाने वाला व्यक्ति निष्कर्मता को प्राप्त करके ईश्वर बन जाता है। ईश्वर और जीव मे केवल कर्म-गत अन्तर है। कर्म की दावार यदि मध्य मे से उठा दी जाए तो जीव मे और ईश्वर मे

स्वरूप कृत कोई अन्तर नही रहता है, जीव ईश्वर-स्वरूप ही बन जाता है।

यह ईश्वर का तीसरा रूप है, जिसे जैन लोग स्वीकार करते है। जेनो की ईश्वर-सम्बन्धी मान्यता के सम्बन्ध मे पीछे भी वर्णन किया जा चुका है।

ईश्वर के सम्बन्ध मे अन्य अनेको रूप भी मिल जाते है। किन्तु मुख्य रूप से आज इन तीनो रूपो का ही अधिक प्रचार एव प्रसार देखने मे आता है। इसलिए यहा इन तीनो का ही सक्षिप्त परिचय कराया गया है।

जनागमो मे परमात्मवाद—

आरभ मे कहा जा चुका है कि जैनदर्शन मे परमात्मा के अर्थ मे ईश्वर शब्द का व्यवहार देखने नही आता है। परमात्मा के लिए जेनदर्शन मे सिद्ध, बुद्ध आदि पदो का प्रयोग मिलता है। अब यहा कई एक प्रश्न हमारे सामने आते है कि जैनदर्शन मे सिद्ध, बुद्ध आदि पदो का प्रयोग किस-किस रूप मे पाया जाता है? और कहा-कहा पाया जाता है? तथा जैनदर्शन परमात्मा को एक कहता है या अनेक? सादि बतलाता है या अनादि? इन प्रश्नोका तथा इस प्रकारके अन्य प्रश्नोका समाधान प्राप्त करने के लिए हमे जैनागम-सागर का मन्थन करना होगा। जैनागमों का गभीर चिन्तन, मनन, निदिध्यासन किए बिना उक्त प्रश्नों का समाधान प्राप्त होना कठिन है। पर यह काम बच्चो का खेल नही है। इस के लिए प्रतिभा चाहिए और जैनागमो का सम्यक्तया परिज्ञान होना चाहिए। जिस को जैनागमो का पर्याप्त बोध हो, उनके पूर्वापर सम्बन्धो की पूर्णतया जानकारी हो तथा उन मे निराबाध गति से जो

विहरण कर सकता हो, ऐसा कोई आगम-मर्मज्ञ महापुरुष ही इन प्रश्नो का समाधान कर सकता है। जनसाधारण के वश का यह काम नही है।

जैन समाज मे आगममहारथी महा-पुरुषो की कमी नही है। जैनागमो के मर्म को समझने वाले तथा उस के महासागर के तल का स्पर्श करने वाले समाज मे आज भी अनेको पूज्य मुनिराज हैं। किन्तु मालूम होता है कि इस सम्बन्ध मे उन्होने कोई ध्यान नही दिया। यही कारण है कि आज तक किसी ऐसी पुस्तक की रचना नही हो सकी है, जिस मे परमात्मसम्बन्धी आगम-पाठो का सकलन किया गया हो। वैसे ऐसी पुस्तक होनी अवश्य चाहिए। जैनागमो मे जहा-जहा परमात्मा का वर्णन आता है, जिन शब्दो तथा जिस रूप मे वह वर्णन किया गया है उस सब का सकलन किसी पुस्तक मे अवश्य हो जाना चाहिए। तभी जैनागमो मे वर्णित परमात्म-स्वरूप का जनसाधारण को बोध प्राप्त हो सकता है।

आगमो मे यत्र-तत्र आए हुए परमात्मसम्बन्धी पाठो का सकलन होना चाहिए,ऐसा सकल्प तो जिज्ञासु पाठको के हृदयो मे वर्षो से चक्र लगा रहा है, किन्तु उसे पूरा करने का किसी ने प्रयास नही किया। मुझे हार्दिक हर्ष होता है. यह बताते हुए कि हमारे श्रद्धेय आचार्य-सम्राट् श्री ने इस दिशा मे प्रयत्न करके उस सकल्प को आज पूरा कर दिया है। आचार्य श्री ने अपने अनवरत स्वाध्याय के बल पर आगमो से प्राय वे सभी पाठ सकलित कर लिये है, जिन मे परमात्मवाद को ले कर कुछ न कुछ कहा गया है, उसके स्वरूप को लेकर चितन किया गया है। उन पाठों का सकलित रूप ही आज हमारे सामने

''जैनागमो में परमात्मवाद'' यह पुस्तिका है। इस पुस्तिका मे परमात्मसम्बन्धी प्राय सभी पाठो को सग्रहीत कर लिया गया है ।

''जेनागमो मे परमात्मवाद'' मे सर्वप्रथम शास्त्रोय पाठ है, फिर टिप्पणी मे उसकी सस्कृत-च्छाया है। तदनन्तर उस पाठ की सस्कृत-व्याख्या है । तत्पश्चात् उसका हिन्दी मे भावार्थ है। मूलपाठ देखने वाले को इस मे मूलपाठ मिलेगा। जो सस्कृत भाषा के विद्वान मूलपाठ के गभोर हार्द को सस्कृत भाषा मे जानने की रुचि रखते है, उनके लिए मूलपाठ की सस्कृत-व्याख्या का इसमे सयोजन किया गया है। जो हिन्दी मे उसे समझना चाहते है, उन के लिए हिन्दी भाषा मे उन पाठो का अनुवाद कर दिया गया है। इस प्रकार इस पुस्तिका को प्रत्येक दृष्टि से उपयोगी और लोकप्रिय बनाने का स्तुत्य प्रयास किया गया है। इस का सभी श्रेय हमारे श्रद्धेय गुरुदेव जैन-धर्म-दिवाकर आचार्य-सम्राट् पूज्य श्री आत्माराम जी महाराज को ही है। इन्ही के अनवरत परिश्रम का यह सुफल है। शारीरिक स्वास्थ्य ठीक न रहते हुए भी आचार्य श्री ने साहित्य-सेवा मे अपना यह योगदान दिया है, इस के लिए साहित्यजगत आचार्य श्री का सदा के लिए ऋणी रहेगा।

ईश्वर-सम्बन्धी हिन्दी साहित्य मे इस पुस्तक की अपनी विशिष्ट उपयोगिता है । जो व्यक्ति जानना चाहते है कि जैनागमो मे परमात्मा के सम्बन्ध मे कैसा निरूपण किया गया है? और किन-किन शब्दो मे किया गया है? उनको इस पुस्तक मे पर्याप्त सामग्री मिलेगी । और जो लोग यह कहते चले आ रहे है कि जैनदर्शन परमात्मा की सत्ता से इन्कार करता है,

या उसके सम्बन्ध मे सर्वथा मौन है, उन लोगों को भी इस पुस्तक मे समुचित समाधान मिल जायेगा, इस पुस्तक के अध्ययन से उन को पता चल जायेगा कि जैनधर्म परमात्मा की सत्ता को सहर्ष स्वीकार करता है, और प्रामाणिकता के साथ परमात्मा के स्वरूप का प्रतिपादन करता है। इस तरह यह पुस्तक साहित्य-जगत मे महान उपकारक, हितावह प्रमाणित होगी, यह मै दृढता के साथ कह सकता हू।

परमश्रद्धेय आचार्य सम्राट् श्री के हम आभारी है, जो शारीरिक दुर्बलता के रहते हुए भी साहित्य-सेवा के पुनीत कार्य को चालू रख रहे है। अबतक आचार्य श्री लगभग ६० पुस्तके लिख चुके है। नेत्र-ज्योति की मदता तथा एक कम अस्सी वर्षो की वयोवृद्ध अवस्था हो जाने पर आज भी श्रद्धेय आचार्य-देव इस पुनीत साहित्य-कार्य से विश्राम नही ले रहे है। अवसर निकालकर इस कार्य को करते ही रहते है। प्रस्तुत पुस्तिका भी आचार्य-देव की इसी लग्न का सुपरिणाम है। आचार्य-देव की इस साहित्यप्रियता, कृपालुता और दयालुता के लिए जितना भी उनका आभार प्रकट किया जाये उतना ही कम है।

जनस्थानक, लुधियाना
कार्तिक शुक्ला १५ २०१६

—ज्ञानमुनि

जैनागमों में परमात्मवाद

* मङ्गलाचरणम् *

अमूर्तस्य चिदानन्द - रूपस्य परमात्मन ।
निरञ्जनस्य सिद्धस्य, ध्यान स्याद्रूपवर्जितम् ।।
इत्यजस्र स्मरन् योगी, तत्स्वरूपावलम्बन ।
तन्मयत्वमवाप्नोति, ग्राह्यग्राहकवर्जितम् ।।
अनन्यशरणीभूय, स तस्मिन् लीयते यथा ।
ध्यातृ - ध्यानोभयाभावे, ध्येयमैक्य यथा व्रजेत् ।।
सोऽय समरसीभाव, तदेकीकरण मतम् ।
आत्मा यदपृथक्त्वेन, लीयते परमात्मनि ।।
अलक्ष्य लक्ष्य-सम्बधात्, स्थूलात्सूक्ष्म विचिन्तयेत् ।
सालम्बाच्च निरालम्ब, तत्त्ववित् तत्त्वमजसा ।।
एव चतुर्विधध्यानामृतमग्न मुनेर्मन ।
साक्षात्कृतजगत्तत्त्व, विधत्ते शुद्धिमात्मन. ।।

— योगशास्त्र, प्रकाश १०

परमात्मा का स्वरूप

मूल पाठ

*सव्वे सरा णियट्टन्ति, तक्का जत्थ न विज्जइ, मइ तत्थ न गाहिया, ओए, अप्पइट्ठाणस्स खेयन्ने, से न

---

* सर्वे स्वरा: निवर्तन्ते, तर्को यत्र न विद्यते, मतिस्तत्र न ग्राहिका, ओज:, अप्रतिष्ठानस्य खेदज्ञ:, स न दीर्घो, न ह्रस्वो, न वृत्तो, न

दीहे, न ह्रस्से, न वट्टे, न तसे, न चउरसे, न परिमडले, न किण्हे, न नीले, न लोहिए. न हालिद्दे, न सुकिल्ले, न सुरभिगन्धे, न दुरभिगन्धे, न तित्ते, न कडुए, न कसाए, न अबिले, न महुरे, न कक्खडे, न मउए, न गरुए, न लहुए, न सीए, न उण्हे, न निद्धे, न लुक्खे, न काऊ, न रुहे, न सगे, न इत्थी, न पुरिसे, न अन्नहा, परिन्ने, सन्ने, उवमा न विज्जए, अरूवी सत्ता, अपयस्स पय नत्थि।

से न सद्दे, न रूवे, न गधे, न रसे, न फासे ।

—आचारागसूत्र प्रथमश्रुतस्कध अध्याय ५ उद्देश ६ ।

सस्कृत–व्याख्या

"सर्वे" निरवशेषा. "स्वरा:" ध्वनयस्तस्मान्निवर्तन्ते तद् वाच्य-वाचक-सम्बन्धे न प्रवर्तन्ते, तथाहि—शब्दा. प्रवर्त्तमाना रूप-रस-गन्ध—स्पर्शानामन्यतमे विशेषे सकेत-काल-गृहीते तत्तुल्ये वा प्रवर्त्तेरन, नचैतत्तत्र शब्दादिना प्रवृत्तिनिमित्तमस्ति, अत· शब्दानभिधेया मोक्षावस्थेति । न

त्र्यस्रो, न चतुरस्रो, न परिमण्डलो, न कृष्णो, न नीलो, न लोहितो, न हारिद्रो, न शुक्लो, न सुरभिगन्धो, न दुरभिगन्धो, न तिक्तो, न कटुको, न कषायो, नाम्लो, न मधुरो, न कर्कशो, न मृदुः, न गुरुः, न लघुः. न शीतो, नोष्णो, न स्निग्धो, न रूक्षो, न कायवान्, न रुहः, न सगः, न स्त्री, न पुरुषः, नान्यथा, परिज्ञः, सज्ञ., उपमा न विद्यते, अरूपिणी सत्ता, अपदस्य पदं नास्ति ।

स न शब्दः, न रूपः, न गन्धः, न रसः, न स्पर्शः ।

केवलं शब्दानभिधेया, उत्प्रेक्षणीयापि न सभवतीत्याह—सभवत्पदार्थ-विशेषास्तित्वाध्यवसाय ऊहस्तर्क एवमेव चैतत्स्यात्, स च यत्र न विद्यते तत शब्दाना कुतः प्रवृत्ति. स्यात्, किमिति तत्र तर्काभाव इति चेदाह-मनन मतिः—मनसो व्यापारः पदार्थचिन्ता सौत्पत्तिक्यादिका चतुर्विधापि मतिस्तत्र न ग्राहिका, मोक्षावस्थाया सकल—विकल्पातीतत्वात्, तत्र च मोक्षे कर्माशसमन्वितस्य गमनमाहोस्विन्निष्कर्मण: ?, न तत्र कर्मसम-न्वितस्य गमनमस्तीत्येतद्दर्शयितुमाह—"ओजः" एकोऽशेष—मलकलकाकरहितः, किं च—न विद्यते प्रतिष्ठानमौदारिक-शरीरादेः कर्मणो वा यत्र सोऽप्रतिष्ठाणो मोक्षस्तस्य 'खेदज्ञो" निपुणो यदि वा अप्रतिष्ठा-नो नरकस्तत्र स्थित्यादिपरिज्ञानतया खेदज्ञो, लोक-नाडि-पर्यन्तपरिज्ञाना-वेदनेन च समस्तलोकखेदज्ञता आवेदिता भवति। सर्वस्वरनिवर्तन च येनाभिप्रायेणोक्तवास्तमभिप्रायमाविष्कुर्वन्नाह—'स' परमपदाभ्यासी लोकान्त-क्रोशषड्भागक्षेत्रावस्थानोऽनन्तज्ञानदर्शनोपयुक्ता सस्थानमाश्रित्य न दीर्घो, न ह्रस्वो, न वृत्तो, न त्र्यस्रो, न चतुरस्रो, न पारिमडलो, वर्णमाश्रित्य न कृष्णो, न नीलो, न लोहितो, न हारिद्रो, न शुल्को, गन्धमाश्रित्य-न सुरभिगन्धो,न दुरभिगन्धो,रसमाश्रित्य-न तिक्तो,न कटुको,न कषायो,नाम्ल। न मधुरः,स्पर्शमाश्रित्य-न कर्कशो,न मृदु ,न लघुः,न गुरु.,न शीतो,नोष्णो, न स्निग्धो,न रूक्षो, 'न काउ' इत्यनेन लेश्या गृहीता यदि वा न कायवान्, यथा वेदान्तवादिनाम्—एक एव मुक्तात्मा तत्कायमपरे क्षीणक्लेशा अनुप्रविशन्ति, आदित्य—रश्मय इवाशुमन्तमिति, तथा न 'रुह' बीज—जन्मनि प्रादुर्भावे "च"—रोहतीति-रुहः न रुहोऽरुहः कर्मबीजाभावादपु-नर्भावीत्यर्थ., न पुनर्यथा शाक्याना दर्शन—निकारतो मुक्तात्मनोऽपि पुनर्भवोपादानमिति, उक्त च—

दग्धेंधनः पुनरुपैति भवं प्रमथ्य,
निर्वाणमप्यनवधारित-भीरुनिष्ठम् ।

मुक्त स्वय कृतभवश्च पराथशूर,
स्त्वच्छासन-प्रतिहतेष्विह मोहराज्यम् ।।१।।

तथा च न विद्यते सगोऽमूर्त्तत्वाद्यस्य स तथा, तथा न स्त्री, न-पुरुषो, नान्यथेति—न नपु सका केवल सर्वैरात्मप्रदेशै परि-समन्तात् विशेषतो जानातीति–परिज्ञः, तथा सामान्यत सम्यग् जानाति—पश्यति इति सज्ञा, ज्ञानदर्शनयुक्त इत्यर्थ । यदि नाम स्वरूपतो न ज्ञायते, मुक्तात्मा तथाप्युपमाद्वारेणादित्य गतिरिव ज्ञायत एवेति चेत् तन्न यत उपमीयते सादृश्यात् परिच्छिद्यते यया सोपमा-तुल्यता सा मुक्तात्मन-स्तज्ज्ञानसुखयोर्वा न विद्यते,लोकातिगत्वात्तेषा, कुत एतदिति चेदाह—तेषा मुक्तात्मना या सत्ता सा अरूपिणी अरूपित्व च दीर्घादिप्रतिषेधेन प्रतिपा-दितमेव । कि च न विद्यते पदम्—अवस्थाविशेषो यस्य सोऽपद तस्य पद्यते-गम्यते येनार्थस्तत्पदम्—अभिधान तच्च नास्ति" न विद्यते वा-च्यविशेषाभावात् तथाहि—योऽभिधीयते स शब्द-रूप-गन्ध-रसस्पर्शान्यितर-विशेषेणाभिधीयते तस्य च तदभाव इत्येतद्दर्शयितुमाह—यदि वा दीर्घ इत्यादिना रूपादिविशेष-निराकरण कृतम्, इह तु तत्सामान्य-निराकरण कर्तु कामाह—स मुक्तात्मा न शब्दरूपः, न रूपात्मा, न गन्ध , न रस., न स्पर्श ।

हिन्दी भावार्थ—

मुक्तात्मा का स्वरूप बताने के लिए कोई भी शब्द समर्थ नही है । तर्क की वहा गति नही होती है । बुद्धि वहा तक जा नही सकती है । उसकी कल्पना नही की जा सकती है । वह मुक्तात्मा सकल कर्म रहित, सम्पूर्ण ज्ञानमय दशा मे विराजमान है । वह न लम्बा है, न छोटा है, न गोल है, न त्रिकोण है, न चौरस है, न मण्डलाकार है, न काला है, न नीला है, न लाल है। वह पीला और सफेद भी नही है । सुगन्ध और दुर्गन्ध

वाला नही है। तीक्ष्ण और कटुक नही है। कसैला, खट्टा और मीठा नही है। वह न कठोर है, न सुकुमार है, न हल्का है, न भारी है, न शीत है, न उष्ण है, न स्निग्ध है, न रूक्ष है, न शरीरधारी है, न पुनर्जन्मा है, न आसक्त है, न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुसक है। वह ज्ञाता है, परिज्ञाता है, उसकी उपमा नही है। वह अरूपी है, अवर्णनीय है, शब्दो द्वारा उसका वर्णन नही किया जा सकता है।

मुक्तात्मा शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श स्वरूप भी नही है।

मूल पाठ

* एक्कतीस सिद्धाइगुणा पण्णत्ता, तजहा—खोणे आभिणिबोहिय—णाणावरणे, खीणे सुयणाणावरणे, खोणे ओहियणाणावरणे, खीणे मणपज्जवणाणावरणे

---

* एकत्रिशत् सिद्धादिगुणाः प्रज्ञप्ता तद्यथा-क्षीणमाभिनिबोधिक-ज्ञानावरण, क्षीण श्रुतज्ञानावरण, क्षीणमवधिज्ञानावरण, क्षीण मन -पर्यवज्ञानावरण, क्षीण केवलज्ञानावरण, क्षीण चक्षुर्दर्शनावरण क्षीणमचक्षुर्दर्शनावरण, क्षीणमवधिदर्शनावरण, क्षीण केवलदर्शनावरण, क्षीणा निद्रा, क्षीणा निद्रानिद्रा, क्षीणा प्रचला, क्षीणा प्रचलाप्रचला, क्षीणा स्त्यानर्द्धि, क्षीण सातावेदनीय, क्षीणमसातावेदनीयं, क्षीण दर्शनमोहनीय, क्षीण चारित्रमोहनीय, क्षीण नैरयिकायुष्क, क्षीण तिर्यगायुष्क, क्षीण मनुष्यायुष्क, क्षीण देवायुष्क, क्षीणमुच्चगोत्र, क्षीण नीचगोत्र, क्षीण शुभनाम, क्षीणमशुभनाम, क्षीणो दानान्त-राय, क्षीणो लाभान्तराय, क्षीणो भोगान्तराय., क्षीण उपभोगान्तराय, क्षीणो वीर्यान्तरायः।

खीणे केवलणाणावरणे, खीणे चक्खुदसणावरणे, खीणे अचक्खुदसणावरणे, क्षीणे ओहिदसणावरणे, खीणे केवलदसणावरणे, खीणे णिद्दा, खीणे निद्दानिद्दा, खीणे पयला, खीणे पयलापयला, खीणे थीणद्धी, खीणे सायावेयणिज्जे, खीणे असायावेयणिज्जे, खीणे दसण-मोहणिज्जे, खीणे चरित्तमोहणिज्जे, खीणे नेरइ-आउए, खीणे तिरिआउए, खीणे मणुस्साउए, खीणे देवाउए, खीणे उच्चागोए, खीणे निच्चागोए, खीणे सुभणामे, खीणे असुभणामे, खीणे दाणतराए, खीणे लाभतराए, खीणे भोगतराए, खीणे उवभोगतराए, खीणे वीरियतराए।

—समवायाग सूत्र, समवाय ३१

हिन्दी-भावार्थ—

सिद्धों के ३१ गुण माने जाते है। जैसे कि—

१. आभिनिबोधिक ज्ञानावरण-मतिज्ञानावरण कर्म का क्षय।
२. श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षय।
३ अवधि-ज्ञानावरण कर्म का क्षय।
४ मन पर्यंव-ज्ञानावरण कर्म का क्षय।
५ कैवल-ज्ञानावरण कर्म का क्षय।
६. चक्षुर्दर्शनावरण कर्म का क्षय।
७. अचक्षुर्दर्शनावरण कर्म का क्षय।
८. अवधि-दर्शनावरण कर्म का क्षय।
९. केवल-दर्शनावरण कर्म का क्षय।

१०. निद्रा का क्षय ।
११ निद्रानिद्रा का क्षय ।
१२ प्रचला का क्षय
१३. प्रचल-प्रचला का क्षय ।
१४ स्त्यानर्द्धि का क्षय ।
१५ सातावेदनीय कर्म का क्षय ।
१६ असातावेदनीय कर्म का क्षय ।
१७ दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय ।
१८. चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय ।
१९. नरकायु का क्षय ।
२०. तिर्यञ्चायु का क्षय ।
२१. मनुष्यायु का क्षय ।
२२ देवायु का क्षय ।
२३. उच्च गोत्र कर्म का क्षय ।
२४ नीच गोत्र कर्म का क्षय ।
२५. शुभ नाम कर्म का क्षय ।
२६ अशुभ नाम कर्म का क्षय ।
२७ दानान्तराय कर्म का क्षय ।
२८. लाभान्तराय कर्म का क्षय ।
२९ भोगान्तराय कर्म का क्षय ।
३०. उपभोगान्तराय कर्म का क्षय ।
३१. वीर्यान्तराय कर्म का क्षय ।



मूल पाठ

* कहि पडिहया सिद्धा ? कहि सिद्धा पडिट्ठिया ?
कहि बोंदि चइत्ता ण, कत्थ गतूग सिज्झइ ? ॥१॥

सस्कृत—व्याख्या

अथ-प्रश्नोत्तर द्वारेण सिद्धानामेव वक्तव्यतामाह—कहि इत्यादि श्लोकद्वय, क्व प्रतिहता —क्व प्रस्खलिता सिद्धा मुक्ता ? तथा क्व सिद्धा. प्रतिष्ठिता-व्यवस्थिता इत्यर्थ ? तथा क्व बोन्दि-शरीर त्यक्त्वा? तथा क्व गत्वा सिज्झइ त्ति-प्राकृतत्वात् । से हु चाइत्ति वुच्चइ, इत्यादिवत् सिध्यन्तीति व्याख्येयमिति ।

हिन्दी—भावार्थ

सिद्ध कहा पर प्रतिहत होते है ? अर्थात् निष्कर्म आत्मा ऊपर की ओर गमन करती हुई कहा पर जा कर रुकती है ? सिद्ध कहा पर जा कर ठहरते है ?

सिद्ध कहा पर शरीर छोड़ते है और कहा पर जा कर सिद्धावस्था को प्राप्त करते है ?

मूल पाठ

† अलोगे पडिहया सिद्धा, लोयग्गे य पडिट्ठिया ।
इह बोन्दि चइत्ता ण, तत्थ गन्तूण सिज्झइ ॥२॥

---

* कुत्र प्रतिहता सिद्धा ?, कुत्र सिद्धा: प्रतिष्ठिता ?
कुत्र बोन्दि (शरीर) च त्यक्त्वा, कुत्र गत्वा सिध्यन्ति ?

† अलोके प्रतिहता. सिद्धा, लोकाग्रे च प्रतिष्ठिता: ।
इह बोन्दि (शरीर) त्यक्त्वा, तत्र गत्वा सिध्यन्ति ॥

संस्कृत—व्याख्या

अलोके अलोकाकाशास्तिकाये प्रतिहता—स्खलिता सिद्धा—मुक्ताः, प्रतिस्खलन चेहानन्तर्यवृत्तिमात्र, तथा लोकाग्रे च पचास्तिकायात्मक-लोकमूर्धनि च प्रतिष्ठिता-अपुनरागत्या व्यवस्थिता इत्यर्थ, तथा इह-मनुष्यक्षेत्रे बोन्दि—तनु परित्यज्य तत्रेति लोकाग्रे गत्वा सिज्झइ त्ति सिध्यन्ति निष्ठितार्था भवन्ति ।

हिन्दी—भावार्थ

सिद्ध अलोक से प्रतिहत होते है, और लोक के अग्रभाग पर जा कर ठहरते है ।

मनुष्य क्षेत्र मे शरीर छोडते है और लोकाग्रभाग पर सिद्धावस्था को प्राप्त होते है ।

मूल पाठ

* ज सठाण इह भवे, चयतस्स चरिमसमयम्मि ।
आसी य पएसघण, त सठाण तहि तस्स ॥३॥

संस्कृत—व्याख्या

किञ्च—ज सठाण, गाहा व्यक्ता, नवर प्रदेशघनमिति त्रिभागेन रन्ध्रपूरणादिति हि' ति सिद्धि-क्षेत्रे 'तस्स' त्ति सिद्धस्येति ।

हिन्दी—भावार्थ

सिद्ध आत्मा का इस मनुष्य क्षेत्र मे जो सस्थान (आकार) होता है, अन्तिम समय मे वह छोटा रह जाता है । छोटा हो

---

* यत्सस्थानमिहभवे, त्यजत चरमसमये ।
आसीच्च प्रदेशघन, तत्सस्थान तत्र तस्य ॥

जाने का कारण यह है कि शरीर मे आत्मप्रदेशो का जो फैलाव होता है, शरीर से बाहिर निकलने पर वह उस रूप मे नही रहने पाता है, तीसरा भाग उस में कम पड जाता है। तीसरा भाग कम हो जाने पर सिद्ध जीव के आत्म प्रदेशो का जो आकार होता है, वही आकार मोक्षावस्था मे उस सिद्ध जीव का बना रहता है।

मूल पाठ

*दीह वा हस्स वा ज चरिमभवे हवेज्ज सठाण ।
तत्तो तिभागहीण, सिद्धाणोगाहणा भणिया ।।४।।

सस्कृत—व्याख्या

तथा चाह—'दीह वा' गाहा, दीर्घं वा-पञ्च-धनु -शतमान हस्व वा-हस्तद्वयमान, वा शब्दात् मध्यम वा यच्चरमभवे भवेत्सस्थान "तत" तस्मात् सस्थानात् त्रिभागहीना त्रिभागेन शुषिरपूरणात् सिद्धा-नामवगाहना—अवगाहन्ते अस्यामवस्थायामिति अवगाहना स्वावस्थैवेति भाव. भणिता-उक्ता जिनैरिति ।

हिन्दी—भावार्थ

चरमशरीरी जीव (मुक्त) का दीर्घ-बडा या ह्रस्व-छोटा जो सस्थान होता है, उस मे से तीसरा भाग कम कर देने पर जो शेष रहता है, वह सस्थान सिद्ध जीवो की अवगाहना (आकार) होती है। हार्द यह है कि चरमशरीरी जीव के शरीर मे नासिकारध्र, कर्ण-रन्ध्र आदि जो आत्मप्रदेशो से

---

* दीर्घं वा हस्व वा यत् चरमभवे भवेत् सस्थानम् ।
ततः त्रिभागहीन, सिद्धानामवगाहना भणिता ।।

रहित स्थान रहता है, आत्मा के मुक्त हो जाने पर आत्म-प्रदेश उस स्थान मे व्याप्त हो जाते है, परिणामस्वरूप शरीर-स्थ उन जीवप्रदेशो का जो आकार रहता है, वह मुक्त दशा मे रहने नही पाता है। उस मे न्यूनता आ जाती है और वह न्यूनता भी शरीराधिष्ठित आत्मप्रदेशो के आकार के तीन भागो मे मे एक भाग की होती है। इसी लिए ऊपर गाथा मे कहा गया है कि जोव का दोर्घ या ह्रस्व जो सस्थान होता है, उस मे से तीसरा भाग कम कर देने पर अवशिष्ट सस्थान सिद्ध-जीवो मे पाया जाता है।

मूल पाठ

तिण्णि सया तेत्तीसा, धणू त्ति भागो य होइ बोधव्वा।
एसा खलु सिद्धाण, उक्कोसोगाहणा भणिया ॥५॥
चत्तारि य रयणीओ-रयणि-त्ति भागूणिया य बोद्धव्वा।
एसा खलु सिद्धाण, मज्झिमओगाहणा भणिया ॥६॥
एक्का य होइ रयणी, साहीया अगुलाइ अट्ठ भवे।
एसा खलु सिद्धाण, जहण्णओगाहणा भणिया ॥७॥

---

* त्रीणि शतानि त्रयस्त्रिशत् धनूषि त्रिभागश्च भवति बोधव्या।
एषा खलु सिद्धानामुत्कृष्टा अवगाहना भणिता ॥
चतस्रश्च रतनय रत्नित्रिभागोनिका च बोधव्या।
एषा खलु सिद्धाना मध्यमावगाहना भणिता ॥
एका च भवति रत्नि साधिका अगुलानि अष्ट भवेयु।
एषा खलु सिद्धाना जघन्यावगाहना भणिला ॥

सस्कृत—व्याख्या

अथावगाहनामेवोत्कृष्टादिभेदत आह—'तिण्णि सते' त्यादि, इय च पञ्चधनु शतमानाना 'चत्तारि ये' त्यादि तु सप्तहस्तानाम् 'एगा ये' त्यादि द्विहस्तमानानामिति। इय च त्रिविधाऽप्यूर्ध्वमानमाश्रित्यान्यथा सप्तहस्तमानाना च उपविष्टाना सिद्धयतामन्यथाऽपि स्यादिति। आक्षेप-परिहारौ पुनरेवमत्र-ननु नाभिकुलकर पञ्चविंशत्यधिकपञ्चधनु शतमान' प्रतीत एव, तद्भार्यापि मरुदेवी तत्प्रमाणैव, 'उच्चत्त चेव कुलगरेहि सममिति वचनात् अतस्तदवगाहना उत्कृष्टावगाहनातोऽधिकतरा प्राप्नोतीति कथ न विरोध' ? अत्रोच्यते, यद्यपि उच्चत्व कुलकरतुल्य तद् योषितामित्युक्त, तथापि प्रायिकत्वादस्य स्त्रीणा च प्रायेण पुम्भ्यो लघुतरत्वात् पञ्चैव धनु —शतान्यसावभवत्, वृद्धकाले वा सकोचात् पञ्च-धनु शतमाना सा अभवद्, उपविष्टा वाऽसौ सिद्धेति न विरोध, अथवा बाहुल्यापेक्षमिदमुत्कृष्टावगाहनामान, मरुदेवी त्वाश्चर्यकल्पेत्येवमपि न विरोध, ननु जघन्यत सप्तहस्तोच्छ्रितानामेव सिद्धि' प्रागुक्ता, तत्कथ जघन्यावगाहना अष्टागुलाधिकहस्तप्रमाणा भवतीति ?, अत्रोच्यते, सप्तहस्तोच्छ्रितेषु सिद्धिरिति तीर्थंकरापेक्ष, तदन्ये तु द्विहस्ता अपि कूर्मपुत्रादयः सिद्धाः अतस्तेषा जघन्याऽवसेया, अन्येत्वाहु'—सप्तहस्तमानस्य सर्वाततागोपागस्य सिद्धयतो जघन्यावगाहना स्यादिति।

हिन्दी—भावार्थ

सिद्धो की उत्कृष्ट अवगाहना तीन सौ तेत्तीस धनुष और एक धनुष का तीसरा भाग मानी जाती है।

सिद्धों की मध्यम अवगाहना एक हाथ का तीसरा भाग कम चार हाथ बतलाई गई है।

सिद्धो की जघन्य अवगाहना आठ अगुल अधिक एक हाथ होती है।

मूल पाठ

* ओगाहणाए सिद्धा भवत्तिभागेण होइ परिहोणा ।
सठाणमणित्थथ, जरामरणविप्पमुक्काण ॥८॥

सस्कृत–व्याख्या

'ओगाहणाए' गाहा व्यक्ता, नवरम्, 'अणित्थथ' त्ति अमु प्रकारमापन्नमित्थ इत्थ तिष्ठतीति इत्थस्थ न इत्थस्थ अनित्थस्थ न केनचिल्लौकिकप्रकारेण स्थितमिति ।

हिन्दी–भावार्थ

जिस अवगाहना (लम्बाई-चौडाई) मे सिद्धात्माए विराजमान होती है, वह मनुष्य-जीवन की अवगाहना से तीसरा भाग कम होती है । जरा (वृद्धावस्था) और मरण से रहित सिद्ध-जीवो का सस्थान (आकार) अनिश्चित होता है । लोक मे जो सस्थान पाए जाते है, उन मे से किसी विशेष सस्थान का वहा कोई नियम नही होता ।

मूल पाठ

जत्थ य एगो सिद्धो तत्थ अणता भवक्खयविप्पमुक्का ।
अण्णोण्णसमवगाढा पुट्ठा सव्वे य लोगन्ते † ॥९॥

---

* अवगाहनाया सिद्धा: भवत्रिभागेन भवतु परिहीना ।
सस्थानमनित्थस्थ', जरा-मरण-विप्रमुक्तानाम् ॥

† यत्र चैक. सिद्धः, तत्रानता भवक्षयविमुक्ताः ।
अन्योन्यसमवगाढा:, स्पृष्टा. सर्वे च लोकान्ते ॥

संस्कृत—व्याख्या

अथैते किं देशभेदेन स्थिता उतान्यथेत्यस्यामाशकायामाह—'जत्थ य' गाहा, यत्र च—यत्रैव देशे एक सिद्धो—निर्वृत्तस्तत्र देशे अनन्ता किम् ?—'भवक्षयविमुक्ता' इति भवक्षयेन विमुक्ता भवक्षयविमुक्ता', अनेन स्वेच्छया भवावतरणशक्तिमत्सिद्धव्यवच्छेदमाह । अन्योन्यसमवगाढा तथाविधाचिन्त्यपरिणामत्वाद्धर्मास्तिकायादिवदिति, स्पृष्टा—लग्ना' सर्वे च लोकान्ते, अलोकेन प्रतिस्खलितत्वाद्, अतएव 'लोयग्गे य पइट्ठिया' इत्युक्तमिति ।

हिन्दी—भावार्थ

सिद्ध-जीव भवक्षय (जन्म-मरण का नाश) के कारण मुक्त माने जाते है। जहा एक सिद्ध रहता है, वहां अनन्त सिद्ध आत्माए निवास करती है। ये सब एक-दूसरे का अवगाहन कर रहे हे, जिन आकाशप्रदेशो पर एक सिद्ध विराजमान हे, उन्ही पर अनन्त सिद्ध अवस्थित है। अनेक दीपको के प्रकाश जैसे एक-दूसरे के साथ रहते है, वैसे ही अनन्त सिद्ध-जीवो के आत्मप्रदेश परस्पर अवगाहन को प्राप्त हो रहे है। इस के अतिरिक्त, सभी सिद्धो के आत्मप्रदेश लोक के अन्त का स्पर्श भी कर रहे है।

मूल पाठ

* फुंसइ अणते सिद्धे सव्वपएसेहिं णियमसो सिद्धो ।
ते वि असखेज्जगुणा देसपएसेहिं जे पुट्ठा ।।१०।।

---

* स्पृशति अनन्तान् सिद्धान्, सर्वप्रदेशै' नियमत: सिद्ध. ।
तेऽपि असंख्येयगुणा. देशप्रदेशै ये स्पृष्टा' ।।

संस्कृत–व्याख्या

तथा 'फुसइ' गाहा, स्पृशत्यनन्तान्सिद्धान् सर्वप्रदेशैरात्मसम्बन्धिभि 'णियमसो' त्ति नियमेन सिद्ध, तथा तेऽप्यसख्येयगुणा वर्तन्ते देशै प्रदेशैश्च ये स्पृष्टा, केभ्य. ? सर्वप्रदेशस्पृष्टेभ्यः, कथम् ?—सर्वात्म-प्रदेशैस्तावदनन्ता स्पृष्टा, एक सिद्धावगाहनायामनन्तानामवगाढत्वात्, तथैकैकदेशेनाप्यनन्ता एवमेकैकप्रदेशेनाप्यनन्ता एव, नवर देशो—द्वया-दिप्रदेशःसमुदाय, प्रदेशस्तु-निर्विभागोऽश इति, सिद्धश्चासख्येयदेश-प्रदेशात्मक, ततश्च मूलानन्तकमसख्येयैर्देशानन्तकैरसख्यैरेव च प्रदेशानन्त-कर्गुणित यथोक्तमेव भवतीति ।

हिन्दी–भावार्थ

सिद्ध अपने आत्मप्रदेशो से अनन्त सिद्धो को स्पर्श किए हुए है और देश (दो से अधिक) एव प्रदेश (एक आत्मप्रदेश) द्वारा जो स्पर्श किए हुए है, वे उन से असख्यात गुणा है ।

मूल पाठ

* असरीरा जीवघणा उवउत्ता दसणे य नाणे य ।
सागारमणागार लक्खणमेय तु सिद्धाण ।।११।।

संस्कृत–व्याख्या

अथ सिद्धानेव लक्षणत आह—'असरीरा' गाहा, उक्तार्था, सग्रह-रूपत्वाच्चास्या न पुनरुक्तत्वमिति ।

हिन्दी–भावार्थ

सिद्ध भगवान अशरीरी है, औदारिक, वैक्रिय आदि पञ्च-

---

* अशरीरा जीवघना उपयुक्ता दर्शने च ज्ञाने च ।
साकारमनाकार लक्षणमेतत् तु सिद्धानाम् ।।

विध शरीरो से रहित है, उन के आत्मप्रदेश सघन हे, पोलार से रहित है, दर्शन ओर ज्ञान के उपयोग से युक्त है, वे साकारोपयोग-ज्ञानोपयोग वाले है, तथा निराकारोपयोग-दर्शनोपयोग वाले है। यही सिद्धो का स्वरूप है।

मूल पाठ

* केवलणाणुवउत्ता जाणति सव्वभावगुणभावे।
पासति सव्वओ खलु केवलदिट्ठीहि अणताहि ॥१२॥

सस्कृत–व्याख्या

'उवउत्ता दसणे य णाणे य'' त्ति यदुक्त, तत्र ज्ञानदर्शनयो: सर्वविषयतामुपदर्शयन्नाह—'केवल' गाहा, केवलज्ञानोपयुक्ता: सन्त न त्वन्त करणोपयुक्ता:, भावतस्तदभावात्, जानन्ति सर्वभावगुण-भावान्, समस्तवस्तुगुणपर्यायान्, तत्र गुणा—सहवर्तिन', पर्यायास्तु—क्रमवर्तिन इति, तथा पश्यन्ति 'सर्वत. खलु' सर्वत एवेत्यर्थ केवलदृष्टिभिरनन्ताभि—केवलदर्शनैरनन्तैरित्यर्थ, अनन्तत्वात् सिद्धानामनन्तविषयत्वाद्वा दर्शनस्य केवलदृष्टिभिरनन्ताभिरित्युक्तम्, इह चादौ ज्ञानग्रहण प्रथमतया तदुपयोगस्था: सिध्यन्तीति ज्ञापनार्थमिति।

हिन्दी–भावार्थ

सिद्ध भगवान केवल ज्ञानोपयोग से सब पदार्थो के गुण और पर्यायो को जानते है, एव अनन्त केवल-दर्शनोपयोग से सभी पदार्थो के गुण और पर्यायो को देखते है।

---

* केवलज्ञानोपयुक्ता जानन्ति सर्वभावगुणभावान्।
पश्यन्ति सर्वत: खलु केवलदृष्टिभिरनन्ताभि ॥

मूल पाठ

* णवि अत्थि माणुसाण त सोक्ख णवि य सव्वदेवाण ।
ज सिद्धाण सोक्ख अव्वाबाह उवगयाण ॥१३॥

सस्कृत–व्याख्या

अथ सिद्धाना निरुपमसुखता दर्शयितुमाह—'णवि अत्थि' गाहा व्यक्ता, नवरम् 'अव्वाबाह' ति विविधा आबाधा व्याबाधा तन्निषेधादव्याबाधा तामुपगताना प्राप्तानामिति ।

हिन्दी–भावार्थ

नाना प्रकार की बाधाओ–पीडाओ से रहित सिद्धो को जो सुख प्राप्त है, वह सुख न सर्वदेवताओ को प्राप्त है और न सब मनुष्यो को ।

मूल पाठ

† ज देवाण सोक्ख सव्वद्धापिण्डिय अणतगुण ।
ण य पावइ मुत्तिसुह णताहि वग्गवग्गूहि ॥१४॥

सस्कृत–व्याख्या

कस्मादेवमित्याह—'ज देवाण' गाहा, 'यतो' यस्माद्देवानाम्—अनुत्तरसुरान्ताना 'सौख्य' त्रिकालिकसुख सर्वाद्धया-अतीतानागतवर्त-

---

* नाप्यस्ति मानुषाणा तत्सौख्यं नापि च सर्वदेवानाम् ।
यत् सिद्धाना सौख्यमव्याबाधामुपगतानाम् ॥

† यद्देवाना सौख्य सर्वाद्धापिण्डितमनन्तगुणम् ।
न च प्राप्नोति मुक्तिसुखमनन्ताभि वर्गवर्गाभि ॥

मानकालेन पिण्डित-गुणित सर्वाद्धापिण्डित, तथाऽनन्तगुणमिति, तदेव-प्रमाण किलासद्भावकल्पनयैकैकाकाशप्रदेशे स्थाप्यते इत्येव सकललोकालोकाकाशानन्तप्रदेशपूरणेनानन्त भवति, न च प्राप्नोति मुक्तिसुख—नैव मुक्तिसुखसमानता लभते, अनन्तानन्तत्वात्सिद्धसुखस्य, किंविध देवसुख-मित्याह-अनन्ताभिरपि 'वर्गवगाभि.' वर्गवर्गैर्वर्गितमपि, तत्र तद्गुणो वर्गो यथा द्वयोर्वर्गश्चत्वारः तस्यापि वर्गो वर्गवर्गो यथा षोडश एवमनन्तशो वर्गितमपि । चूर्णिकारस्त्वाह-अनन्तैरपि वर्गवर्गै–खण्डखण्डै खण्डित सिद्धसुख तदीयानन्तानन्ततमखण्डसमतामपि न लभते इत्यर्थ । ततो नास्ति तन्मानुषादीना सुख यत्सिद्धानामिति प्रकृतम ।

हिन्दी—भावार्थ

देवताओं के त्रैकालिक सुख को एकत्रित कर के यदि अनन्त गुणा किया जाए, तो भी वह मुक्ति-सुख के अनन्तवे भाग की समता नही कर सकता है ।

मूल पाठ

* सिद्धस्स सुहो रासी सव्वद्धापिण्डिओ जइ हवेज्जा ।
सोऽनतवग्गभइओ सव्वागासे ण माएज्जा ॥१५॥

सस्कृत—व्याख्या

सिद्धसुखस्यैवोत्कर्षणाय भङ्ग्यन्तरेणाह—'सिद्धस्स' गाहा, सिद्धस्य मुक्तस्य सम्बन्धी 'सुख' सुखाना सत्को 'राशि' समूह. सुखसघात इत्यर्थः, 'सर्वाद्धापिण्डित' सर्वकालसमयगुणितो यदि भवेद् अनेन चास्य कल्पनामात्रतामाह—सोऽनन्तवर्गभक्तो—अनन्तवर्गापवर्तित सन् समीभूत

---

*सिद्धस्य सुखो राशिः, सर्वाद्धापिण्डितो यदि भवेद् ।
सोऽनन्तवर्गभक्त, सर्वाकाशे न मायात् ॥

एवेति भावार्थ, 'सर्वाकाशे' लोकालोकरूपे न मायात्, अयमत्र भावार्थं - इह किल विशिष्टाह्लाद-रूप सुख गृह्यते, ततश्च यत आरभ्य शिष्टाना सुख-शब्दप्रवृत्तिस्तमाह्लादमवधीकृत्य एकैकगुणवृद्धितारतम्येन तावदसावाह्लादो विशिष्यते यावदनन्तगुणवृद्धया निरतिशयनिष्ठा गतः, ततश्चासावत्यन्तोपमातीतैकान्तिकौत्सुक्यविनिवृत्तिरूपः स्तिमिततममहोदधिकल्पश्चरमाह्लाद एव सदा सिद्धाना भवति, तस्माच्चारात् प्रथमाच्चोर्ध्वमपान्तरालवर्तिनो ये तारतम्येनाह्लादविशेषास्ते सर्वाकाशप्रदेशराशेरपि भूयासो भवन्तीत्यत. किलोक्त-सव्वागासे ण माएज्ज' त्ति, अन्यथा प्रतिनियतदेशावस्थितिः कथ तेषामिति सूरयोऽभिदधतीति ।

हिन्दी–भावार्थ

एक सिद्ध के त्रैकालिक सुख को भी एकत्रित करके यदि उसे अनत विभागो मे विभक्त किया जाए, तो उस का एक भाग भी सारे आकाश मे नहीं समा सकता ।

मूल पाठ

* जह नाम कोइ मिच्छो नगरगुणे बहुविहे वियाणतो ।
न चएइ परिकहेउ उवमाए तहि असंतीए ।।१६।।

सस्कृत–व्याख्या

अस्य च वृद्धोक्तस्याधिकृतगाथाविवरणस्याय भावार्थः— य ए सुखभेदास्ते सिद्ध - सुखपर्यायतया व्यपदिष्टाः, तदपेक्षया तस्य क्रमेणोत्कृष्यमाणस्यानन्ततमस्थानवर्तित्वेनोपचारात्, तद्राशिश्च किलासद्भावस्थापनया सहस्र समयराशिस्तु शत, सहस्र च शतेन गुणित जात

---

*यथा नाम कोऽपि म्लेच्छ नगरगणान् बहुविधान् विजानन् ।
न शक्नोति परिकथयित उपमाया तत्र असत्याम् ।।

लक्ष, गुणन च कृत सर्व-समयसम्बन्धिना सुखपर्यायाणा मीलनार्थं, तथाऽनन्तराशिः किल दश तद्वर्गश्च शत, तेनापवर्तित लक्ष जात सहस्रमेव, अत पूज्यैरुक्त समीभूत एवेति भावार्थ इति,यच्चेह सुखराशेर्गुणनमपवर्तन च तदेव सम्भावयाम -यत्र किलानन्तराशिना गुणितेऽपि सति अनन्तवर्गेणानन्तानन्तकरूपेणातीव महास्वरूपेणापवर्तिते किञ्चिदवशष्यते, स राशिरतिमहान्, ततश्च सिद्ध -सुखराशिर्महानिति बुद्धिजननार्थं शिष्यस्य तस्यैव वा गणितमार्गे व्युत्पत्तिकरणार्थमिति। अन्ये पुनिरमा गाथामेव व्याख्यान्ति-सिद्धसुखपर्यायराशि. नभ प्रदेशाग्र-गुणितनभ. प्रदेशाग्र - प्रमाण , तत्परिमाणत्वात्सिद्धसुखपर्यायाणा, सर्वाद्धापिण्डित -सर्वसमयसम्बधी सकलित. सन्, स चानन्तै. अनन्तशो इत्यर्थ , वर्गै --वर्गमूलैर्भक्त -अपवर्तित अत्यन्त लघूकृत इत्यर्थ , यथा किल सर्वसमयसम्बधी सिद्धसुखराशि. पञ्चषष्ठिसहस्राणि पञ्च शतानि षट्त्रिशच्चेति (६५५३६) स च वर्गेणापवर्त्तित. सन् जाते द्वे शते षट्पञ्चाशदधिके सोऽपि स्वर्गापवर्तितो जाता षोडश तत्श्चत्वार. ततो द्वावित्येवमतिलघुकृतोऽपि सर्वाकाशे न मायाद्, एतदेवाह 'सव्वागासे न माएज्ज' त्ति। अथ सिद्धसुखस्यानुपमता दृष्टान्तेनाह—'जह' गाह पूर्वार्धं व्यक्त 'न चएइ' त्ति न शक्नोति परिकथयितु नगर-गुणानरण्यमागतोऽरण्यवासिम्लेच्छेभ्य', कुत इत्याह–उपमाया त्वत्र नगरगुणेष्वरण्ये वाऽसत्यामिति, कथानक पुनरेवम्—

म्लेच्छः कोऽपि महारण्ये, वसति स्म निराकुल. ।
अन्यदा तत्र भूपालो, दुष्टाश्वेन प्रवेशित ॥१॥
म्लेच्छेनासौ नृपो दृष्ट', सत्कृतश्च यथोचितम् ।
प्रापितश्च निज देश, सोऽपि राज्ञा निजं पुरम् ॥२॥
ममायमुपकारीति, कृतो राज्ञातिगौरवात् ।
विशिष्टभोगभूतीना, भाजन जन - पूजितः ॥३॥

तत प्रासाद - शृ गेषु, रम्येषु काननेषु च ।
वृतो विलासिनीसार्थैर्भु क्ते, भोग-सुखान्यसौ ॥४॥
अन्यदा प्रावृष प्राप्तौ, मेघाडम्बरमण्डितम् ।
व्योम दृष्ट्वा ध्वनि श्रुत्वा, मेघाना स मनोहरम् ॥५॥
जातोत्कण्ठो दृढ जातोऽरण्यवासगम प्रति ।
विसर्जितश्च राज्ञाऽपि प्राप्तोऽरण्यमसौ तत ॥६॥
पृच्छन्त्यरण्यवासास्त, नगर तात ! कीदृशम् ?
स स्वभावान् पुर सर्वान्, जानात्येव हि केवलम् ॥७॥
न शशाक तका (तरा) तेषा, गदितु स कृतोद्यम ।
वने वने चराणा हि, नास्ति सिद्धोपमा यत (तथा) ॥८॥

हिन्दी–भावार्थ

जैसे कोई म्लेच्छ (अरण्यवासी) नगर के बहुत से गुणो को जानता हुआ भी वहा उपमा के अभाव के कारण उन्हे कह नही सकता ।

मूल पाठ

*इय सिद्धाण सोक्ख अणोवम णत्थि तस्स ओवम्म ।
किंचि विसेसेणेत्तो ओवम्ममिण सुणह वोच्छ ॥१७॥

संस्कृत–व्याख्या

अथ दार्ष्टान्तिकमाह—'इय' गाहा, 'इति' एवम् अरण्ये नगरगुणा इवेत्यर्थ, सिद्धाना सौख्यमनुपम वर्तते, किमित्थमित्याह—यतो नास्ति तस्यौपम्य, तथापि बालजनप्रतिपत्तये किञ्चिद्विशेषेणाह—एत्तो' त्ति

*इति सिद्धाना सौख्यमनुपम नास्ति तस्य औपम्य ।
किचित् विशेषेण इत औपम्यमिद शृणुत, वक्ष्यामि ॥

आर्षत्वादस्य—सिद्धिमुखस्य इतो वाऽनन्तरम् औपम्य—उपमानम् (इद) वक्ष्यमाण शृणुत वक्ष्ये इति ।

हिन्दी—भावार्थ

इसी प्रकार सिद्धो का सुख उपमा रहित है। इसकी कोई उपमा नही है ।

सिद्धो का सुख उपमा के द्वारा कथन नही किया जा-सकता है, यह सत्य है, तथापि जनसाधारण के लिए सिद्धो के सुख को दृष्टान्त द्वारा बतलाया जायेगा। उसे सुनो ।

मूल पाठ

* जह सव्वकामगुणिय पुरिसो भोत्तुण भोयण कोइ ।
तण्हाछुहाविमुक्को अच्छेज्ज जहा अमियतित्तो ॥१८॥
इय सव्वकालितत्ता अतुल निव्वाणमुवगया सिद्धा ।
सासयमव्वाबाह चिट्ठन्ति सुही सुह पत्ता ॥१९॥

सस्कृत—व्याख्या

'जह' गाहा, 'यथे' त्युदाहरणोपन्यासार्थ, 'सर्वकामगुणित' सजातसमस्तकमनीयगुण, शेष व्यक्तम्, इह च रसनेन्द्रियमेवाधिकृत्येष्ट-विषयप्राप्त्या औत्सुक्यनिवृत्त्या सुखप्रर्शन सकलेन्द्रियार्थावाप्त्याऽशेषौत्सु-क्यनिवृत्त्युपलक्षणार्थम्, अन्यथा बाधान्तरसम्भवात् सुखार्थाभाव इति ।

---

* यथा सर्वकामगुणित पुरुषो भुक्त्वा भोजन कोऽपि ।
तृष्णाक्षुधाविमुक्त आस्ते यथा अमृततृप्तः ॥
इति सर्वकालतृप्ता अतुल निर्वाणमुपगता सिद्धा. ।
शाश्वतमव्याबाध तिष्ठन्ति सुखिनः सुख प्राप्ता ॥

'इय' गाहा 'इय' एव सर्वकालतृप्ता शाश्वदभावात् अतुल निर्वाणमुपगताः सिद्धा, सर्वदा सकलौत्सुक्यनिवृत्ते, यतश्चैवमत 'शाश्वत' सर्वकालभावि 'अव्याबाध' व्याबाधावर्जित सुख प्राप्ता' सुखिनस्तिष्ठन्तीति योग, सुख प्राप्ता इत्युक्ते सुखिन इत्यनर्थकमिति चेत्, नैव दु खाभावमात्रमुक्तिसुखनिरासेन वास्तव्यसुखप्रतिपादनार्थत्वादस्य, तथाहि—अशेषदोषक्षयत शाश्वतमव्याबाधसुख प्राप्ता सुखिन. सन्तः तिष्ठन्ति, न तु दु खाभावमात्रान्विता एवेति ।

हिन्दी—भावार्थ

जैसे कोई पुरुष सब प्रकार के सुन्दर गुणो से युक्त भोजन को खाकर अमृत से तृप्त हुए व्यक्ति के समान पिपासा और क्षुधा से रहित हो जाता है, इसी तरह सदा तृप्त रहने वाले, उपमारहित, निर्वाण (शान्ति) को प्राप्त हुए सिद्ध शाश्वत (नित्य) और बाधा-रहित सुख को प्राप्त करके सुखी बने रहते है ।

मूल पाठ

* सिद्ध त्ति य बुद्ध त्ति य पारगय त्ति य परपरगय त्ति ।
उम्मुक्ककम्मकवया अजरा अमरा असगा य ॥२०॥

---

* सिद्धा इति च बुद्धा इति च पारगता इति च परम्परागता इति ।
उन्मुक्तकर्मकवचा अजरा अमरा असगाश्च ॥
निस्तीर्णसर्वदु खा जाति-जरामरण-बधन-विमुक्ता ।
अव्याबाध सुखमनुभवन्ति शाश्वत सिद्धा. ॥
अतुलसुखसागरगता अव्याबाधमनुप प्राप्ता ।
सर्वामनागतामद्धा तिष्ठन्ति सुखिन सुख प्राप्ता' ॥

णिच्छिण्णसव्वदुक्खा जाइजरामरणबधणविमुक्का ।
अव्वाबाह सुख अणुहोति सासय सिद्धा ॥२१॥
अतुलसुहसागरगया अव्वाबाह अणोवम पत्ता ।
सव्वमणागयमद्ध चिट्ठति सुही सुह पत्ता ॥२२॥

सस्कृत—व्याख्या

साम्प्रत वस्तुत सिद्धपर्यायशब्दान प्रतिपादयन्नाह — 'सिद्ध त्ति य' गाहा, सिद्धा इति च तेषा नाम कृतकृत्यत्वाद्, एव बुद्धा इति केवलज्ञानेन विश्वावबोधात्, पारगता इति च भवार्णवपारगमनात्, परपरगय त्ति—पुण्यबीजसम्यक्त्वज्ञानचरणक्रमप्राप्तयुपाययुक्तत्वात् परम्परया गता परम्परगता उच्यन्ते, उन्मुक्तकर्मकवचा. सकलकर्मवियुक्त्वात्, तथा अजरा वयसोऽभावात्, अमरा आयुषोऽभावात् असगाश्च सकलक्लेशाभावादिति । 'णिच्छिण्ण' गाहा 'अतुल' गाहा व्यक्तार्थे एवेति ।

हिन्दी—भावार्थ

सिद्ध, बुद्ध, पारगत, परम्परगत, उन्मुक्तकर्म कवच, अजर अमर, असग ये सब सिद्ध जीवो के पर्यायवाचक शब्द है। सिद्ध कृतकृत्य को कहते है। केवल ज्ञान के द्वारा विश्व को जानने वाले बुद्ध कहलाते है। ससार रूपी समुद्र से पार हुए को पारगत कहा जाता है। सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति, पुन सम्यग् ज्ञान की प्राप्ति, तदनन्तर सम्यक्चारित्र की प्राप्ति, इस परम्परा द्वारा जिस ने मोक्ष को प्राप्त किया है, उसे परम्परगत कहते है । सब प्रकार के कर्मो से रहित उन्मुक्त-कर्म-कवच, जरा आदि अवस्थाओ से रहित अजर, आयु से रहित अमर और सब प्रकार के क्लेशों से रहित असग कहलाते है ।

सिद्ध सब प्रकार के दुखो से रहित हो चुके है। जन्म, जरा और मृत्यु के बधन से विमुक्त है। बाधारहित और शाश्वत सुख का अनुभव करते है।

सिद्ध भगवान् उपमा रहित सुख के सागर मे निमग्न है। बाधारहित तथा उपमारहित सुख को प्राप्त करके सदा के लिए सुखी बने रहते है।

मूल पाठ

*जदत्थि ण लोए त सव्व दुपडोयारं तंजहा—जीवा चेव अजीवा चेव, तसा चेव, थावरा चेव, सजोणिया चेव अजोणिया चेव, साउया चेव, अणाउया चेव, सइन्दिया चेव, अणिन्दिया चेव, सवेयगा चेव, अवेयगा चेव, सरूवी चेव, अरूवी चेव, सपोग्गला चेव अपोग्गला चेव ससार-समावन्नगा चेव, अससारमावन्नगा चेव, सासया चेव, असासया चेव।

—स्थानागसूत्र स्थान २, उद्देशक १

* यदस्ति लोके तत्सर्वं द्विप्रत्यवतार तद्यथा—जीवाश्चैव अजीवाश्चैव, त्रसाश्चैव स्थावराश्चैव, सयोनिकाश्चैव अयोनिकाश्चैव, सायुष्काश्चैव अनायुष्काश्चैव, सेन्द्रियाश्चैव अनिन्द्रियाश्चैव, सवेदकाश्चैव अवेदकाश्चैव, सरूपिनश्चैव अरूपिनश्चैव, सपुद्गलाश्चैव अपुद्गलाश्चैव, संसारसमापन्नकाश्चैव, अससारसमापन्नकाश्चैव, शाश्वताश्चैव अशाश्वताश्चैव।

सस्कृत–व्याख्या

'जदत्थी' त्यादि सहितादिचर्चं पूर्ववत् 'यद्' जीवादिक वस्तु अस्ति विद्यते णमिति वाक्यालङ्कारे,क्वचित् पाठो–'जदत्थि च ण' त्ति तत्रानुस्वार आगमिक च–शब्द पुनरर्थं एव च अस्य प्रयोग: अस्त्यात्मादिवस्तु-पूर्वाध्ययनप्ररूपितत्वात्, यच्चास्ति 'लोके' यश्चास्ति कायात्मके लोक्यते-प्रमीयते इति लोक इति व्युत्पत्त्या लोकालोकरूपे वा तत् सर्वं निरवशेष द्वयो पदयो स्थानयो पक्षयोर्विवक्षितवस्तुतद्विपर्यय–लक्षणयोरवतारो यस्य तद् द्विपदावतारमिति। 'दुपडोयार' त्ति क्वचित् पठ्यते, तत्र द्वयो प्रत्यवतारो यस्य तद् द्विप्रत्यवतारमिति, स्वरूपवत् प्रतिपक्षवच्चेत्यर्थ 'तद्यथे' त्युदाहरणोपन्यासे 'जीवच्चेव, अजीववच्चेव त्ति' जीवाश्चैवाजीवाश्चैव प्राकृतत्वात् सयुक्तपरत्वेन ह्रस्व, चकारौ समुच्चयार्थौ एवकारोऽवधारणे, तेन च राश्यन्तरापोहमाह, नो जीवाख्य राश्यन्तरमस्तीति चेव, नैवम् सर्व-निषेधकत्वे नो-शब्दस्य नो जीवशब्देनाजीव एव प्रतीयते, देशनिषेधकत्वे तु जीवदेश एव प्रतीयते न च देशो देशिनोऽत्यन्त व्यतिरिक्त इति जीव एवासाविति, 'च्चेय' इति वा एवकारार्थ 'चिय च्चेय' एवार्थ इति वचनात् ततश्च जीवा एवेति विवक्षितवस्तु अजीवा एवेति च तत्प्रतिपक्ष इति, एव सर्वत्र अथवा यदस्ति अस्तीति यत् सन्मात्र यदित्यर्थ, तद् द्विपदावतार द्विविधं-जीवाजीवभेदादिति शेष तथैव। अथि त्रसेत्यादिकया नव सूत्र्या जीवत्वस्यैव भेदात् सत्प्रतिपक्षानुपदिश्यति—'तसे चेवे' त्यादि तत्र त्रसनाम-कर्मोदितस्त्रस्यन्तीति त्रसा:–द्वीन्द्रियादय स्थावरनामकर्मोदयात् तिष्ठन्त्येवशीला: स्थावरा. पृथिव्यादय:, सह योन्या—उत्पत्तिस्थानेन सयोनिका—ससारिणस्तद्विपर्यासभूता: अयोनिका:–सिद्धा: सहायुषा वर्तन्त इति सायुषस्तदन्येऽनायुष-सिद्धा, एव सेन्द्रिया–ससारिण, अनिन्द्रिया.—सिद्धादय., सवेदका: स्त्रीवेदाद्युदयवन्त: अवेदका सिद्धा-

दय', सह रूपेण—मूर्त्या वर्तन्त इनि समासान्ते इन् प्रत्यये सति सरूपिण संस्थानवर्णादिमन्त सशरीरा इत्यर्थ, न रूपिणोऽरूपिणो—मुक्ता', सपुद्गला -कर्मादिपुद्गलवन्तो जीवा , सिद्धा , ससार-भव समापन्नका - आश्रिता ससारसमापन्नका -ससारिण' तदितरे सिद्धाः शाश्वताः सिद्धा जन्ममरणादिरहितत्वाद्, अशाश्वता —ससारिण. तद्युक्तत्वादिति ।

हिन्दी—भावार्थ

ससार मे जो कुछ है, उसे दो विभागो मे विभक्त किया जा सकता है । जैसे कि--जीव और अजीव ।

जीव के दो-दो भेद होते है । जैसे कि—त्रस और स्थावर । सयोनिक (उत्पत्तिशील) और अयोनिक (उत्पत्तिरहित-सिद्ध), आयु वाले और आयु रहित (सिद्ध),—सेन्द्रिय इन्द्रियों वाले और अनिन्द्रिय-इन्द्रियो से रहित (सिद्ध), सवेदक—स्त्री, पुरुष आदि वेद से युक्त और अवेदक-वेद से रहित (सिद्ध) सरूपी—रूप, रस, गन्ध आदि से युक्त और अरूपी—रूप, रस आदि से रहित (सिद्ध), सपुद्गल-पुद्गल युक्त और अपुद्गल-पुद्गल से रहित (सिद्ध), ससारसमापन्नक-ससार मे रहने वाले और असंसार-समापन्नक-जन्ममरण रूप ससार से विमुक्त (सिद्ध), शाश्वत-नित्य (सिद्ध) और अशाश्वत-ससारी ।

मूल पाठ

* अत्थि ण भते ! अकम्मस्स गती पण्णायति ? हन्ता अत्थि । कहन्न भते ! अकम्मस्स गती पण्णायति? गोयमा ! निस्सगयाए निरगणयाए गतिपरिणामेण

---

*अस्ति भदन्त ! अकर्मणो गति प्रज्ञायते ? हन्त अस्ति ।

बन्धणछेयणयाए निरधणयाए पुव्वप्पआगेण अकम्मस्स गती पण्णत्ता। कहन्न भते ! निस्सगयाए निरगणयाए गइपरिणामेण बन्धणछेयणयाए निरधणयाए, पुव्वप्पओ-गेण अकम्मस्स गती पण्णायति ? से जहानामए–केइ पुरिसे सुक्क तुम्ब निच्छिड्ड निरुवहय ति आणुपुव्वोए परिकम्मेमाणे २ दब्भेहि य कुसेहि य वेढेइ २ अट्ठहि मट्टियालेवेहि लिपइ २ उण्हे दलयति भूति २ सुक्क समाण अत्थाहमतारमपोरसियसि उदगसि पक्खिवेज्जा, से नूण गोयमा ! से तुबे तेसि अट्ठण्ह मट्टियालेवेण गुरुयत्ताए भारियत्ताए गुरुसभारियत्ताए सलिलतलम-तिवइत्ता अहे धरणितलपइट्ठाणे भवइ? हता भवइ। अहेण से तुबे अट्ठण्ह मट्टियालेवेण परिक्खएण धरणितलमतिव-इत्ता उप्पि सलिलतलपइट्ठाणे भवइ ?, हन्ता भवइ,

---

कथन्नु भदन्त ! अकर्मण: गति प्रज्ञायते ? गौतम ! नि सगतया, नीरागतया, गति–परिणामेन, बन्धन—छेदनतया, निरिन्धनतया, पूर्व-प्रयोगेन अकर्मण गति प्रज्ञप्ता। कथन्नु भदन्त ! नि.सगतया, नीरा-गतया, गतिपरिणामेन, बन्धन-छेदनतया, निरिन्धनतया, पूर्वप्रयोगेन अकर्मण. गति. प्रज्ञायते ? तद्यथानाम, कोऽपि पुरुष: शुष्कान् अलाबून् निस्छिद्रान्, निरुपहतान् इति आनुपूर्व्या परिकर्मयन् २ दर्भैश्च कुशैश्च वेष्टयति २ अष्टभि मृत्तिकालेपै: लिम्पति २ उष्णे ददाति भूयोभूय शुष्के सति अस्ताघे अतारे अपौरुषेये उदके प्रक्षिपेत्। तन्नून गौतम ! सा

लाबू: तेषामष्टाना मृत्तिकालेपाना गुरुतया भारितया गुरुसभारितया

एव खलु गोयमा ! निस्सगयाए निरगणयाए, गइपरिणामेण अकम्मस्स गई पण्णायति । कहन्न भते ! बधणछेदणयाए अकम्मस्स गई पण्णत्ता ?, गोयमा ? से जहानमाए—कलसिबलियाइ वा मुग्गसिबलियाइ वा माससिबलियाइ वा सिबलिसिबलियाइ वा एरडमिजियाइ वा उण्हे दिन्ना सुक्का समाणो फुडित्ता ण एगन्तमत गच्छइ एव खलु गोयमा ! ०। कहन्न भन्ते ! निरधणयाए अकम्मस्स गति पण्णत्ता ? गोयमा ! से

सलिलतलमतिव्रज्य अधो धरणीतलप्रतिष्ठाना भवति ? हन्त भवति। अथ सा अलाबू अष्टाना मृत्तिकालेपाना परिक्षयेण धरणीतलमतिव्रज्य उपरि सलिलतलप्रतिष्ठाना भवति ? हन्त भवति। एव खलु गौतम ! नि सगतया, नीरागतया गतिपरिणामेन अकर्मण गति प्रज्ञायते। कहन्नु भदन्त ! बधनछेदनतया अकर्मणो गति प्रज्ञप्ता ? गौतम ! तद्यथा-नाम—कलायफलिका वा मुद्गफलिका वा मासफलिका वा सिबलिफलिका वा एरण्डफलिका वा उष्णे दत्ता शुष्का सती स्फुटित्वा एकान्तमत गच्छति ' एव खलु गौतम ! ० । कथन्नु भदन्त ! निरिन्धनतया अकर्मणो गति प्रज्ञप्ता ? गौतम ! तदयथानाम—धूमस्य इन्धनविप्रमुक्तस्य ऊर्ध्व विस्रसया निर्व्याघातेन गति प्रवर्तते । एव खलु गौतम ' ० । कथन्नु भदन्त ! पूर्व-प्रयोगेन अकर्मणो गति प्रज्ञप्ता ? गौतम ! तदयथानाम-काण्डस्य कोदण्डविप्रमुक्तस्य लक्ष्याभिमुखी निर्व्याघातेन गति प्रवर्तते । एव खलु गौतम ! नि सगतया नीरागतया यावत् पूर्वप्रयोगेन अकर्मणो गतिः प्रज्ञप्ता ।

जहानामए-धूमस्स इधणविप्पमुक्कस्स उड्ढं वीसनाए निव्वाघाएण गती पवत्तति, एव खलु गोयमा ! ०। कहन्न भते ! पुव्वप्पओगेण अकम्मस्स गती पण्णत्ता ?, गोयमा ! से जहानामए कण्डस्स कोदण्डविप्पमुक्कस्स लक्खाभिमुही निव्वाघाएण गति पवत्तइ। एव खलु गोयमा ! नीसगयाए निरगणया जाव पुव्वप्पओगेण अकम्मस्स गती पण्णत्ता ।

—व्याख्याप्रज्ञप्ति ७ शतक, १ उद्देशक, सू० २६५

सस्कृत—व्याख्या

'गई पण्णायइ' त्ति गति. प्रज्ञायते अभ्युपगम्यते इति यावत् 'निस्सगयाए' त्ति नि सगतया कर्ममलापगमेन 'निरगणयाए' त्ति नीरागतया मोहापगमेन 'गतिपरिणामेण' त्ति गतिस्वभावतया अला-बुद्रव्यस्येव 'बधणछेयणाए' त्ति कर्मबधनच्छेदनेन एरण्डफलस्येव 'निरधणताए' त्ति कर्मेन्धनविमोचनेन धूमस्येव 'पुव्वप्पओगेण' त्ति सकर्मताया गतिपरिणामवत्त्वेन बाणस्येवेति । एतदेव विवृण्वन्नाह— 'कहन्न' मित्यादि, निरुवहय, त्ति वाताद्यनुपहत 'दब्भेहि य' त्ति दर्भै समूलैः 'कुसेहि य' त्ति कुशै दर्भैरेव छिन्नमूलै, 'भूइ भूइ' त्ति भूयोभूय. 'अत्थाहे' त्यादि इह मकारौ प्राकृतप्रभावत. अस्ताघेऽत— एवानवतारेऽतएव अपौरुषेये, अपुरुषप्रमाणे 'कलसिबलियाइ वा' कलायाभिधान्यफलिका 'सिबलि' त्ति वृक्षविशेष. 'एरण्डमिजिया' एरण्डफलम्। एगतमन्त गच्छइ' एक इत्येवमन्तो निश्चयो यत्रासा-वेकान्त एक इत्यर्थः। अतस्तमन्त भूभाग गच्छति, इह च बीजस्य गमनेऽपि (यत्) कलायसिबलिकादेरिति यदुक्त तत्तयोरभेदोपचारादिति ।

'उड्ढ वीससाए' त्ति ऊर्ध्वं विस्रसया स्वभावेन 'निव्वाघाएण' त्ति कटाद्याच्छादनाभावात् ।

हिन्दी—भावार्थ

हे भदन्त ! कर्म-रहित की गति होती है ?

हा, गौतम ! होती है ।

हे भदन्त ! कर्म-रहित की गति किस प्रकार होती है ?

हे गौतम ! कर्ममल से रहित होने के कारण, राग-द्वेष से रहित होने के कारण, गति-स्वभाव होने के कारण, कर्मबधन का नाश होने से, कर्मरूप इन्धन के जल जाने से, पूर्व-प्रयोग* के कारण कर्मरहित जीव की गति होती है ।

कर्म-रहित जीव की गति को एक उदाहरण से समझिए । जैसे कोई पुरुष शुष्क, निश्छिद्र, अखण्डित, अलाबू-तुम्बक को क्रमश दर्भ (दूब) और कुशा से लपेटता है, फिर माटी के आठ लेपो से उसे लीपता है, तदनन्तर उसे धूप मे रखकर सुखाता है । उस के अच्छी तरह सूख जाने के पश्चात् अथाह से रहित, न तैरे जा सकने वाले, पुरुष से भी अधिक गहरे पानी मे उसे डाल देता है । वह तुम्बक माटी के उन आठ लेपो के गुरु, भारी और अत्यन्त भारी होने के कारण सलिलतल को उल्लघन कर के नीचे पृथ्वी-तल पर जाकर ठहर जाता है किंतु जल के द्वारा माटी के लेपो के उतर जाने पर वह तुम्बक पृथ्वीतल से ऊपर उठता हुआ अन्त मे पानी के ऊपर आ

* देखा गया है कि वाण को चलाने के लिए सर्वप्रथम बल लगाया जाता है, उस बल के प्रयोग से फिर वह वाण आगे सरकता है। वैसे ही निष्कर्म आत्मा शरीर से बलपूर्वक निकलता है, उसी बल के प्रयोग से आत्मा मे आगे गति होती है, इसी बलप्रयोग को पूर्वप्रयोग कहा जाता है ।

जाता है। इसी प्रकार हे गौतम ! कर्म-मल के दूर होने से, राग द्वेष से रहित हो जाने से और गति-स्वभाव से कर्मरहित जीव की गति होती है।

हे भदन्त ! कर्म-बन्धन से रहित होने के कारण कर्म-रहित जीव की गति किस प्रकार होती है ?

हे गौतम ! जैसे कलाय की फली, मूगी की फली, माष की फली, सिम्बलि की फली और एरण्ड की फली धूप में रख देने पर सूख जाती है, सूख कर फट जाती है, तब उस के वीज एकान्त मे जा पडते है। इसी प्रकार कर्मरहित जीव की गति होती है।

हे भदन्त ! कर्मरूप इन्धन के जल जाने से कर्मरहित जीव की गति किस प्रकार होती है ?

हे गौतम ! जैसे इन्धन से रहित धूम्र की स्वभाव से ऊर्ध्व गति होती है, उसी प्रकार कर्मरहित जीव की भी गति होती है।

हे भदन्त ! पूर्व प्रयोग के द्वारा कर्मरहित जीव की गति किस प्रकार होती है ?

हे गौतम ! जैसे धनुष से छोडे हुए, लक्ष्य की ओर जाने वाले बाण की बेरोकटोक गति होती है। इसी प्रकार कर्मरहित जीव की भी गति होती है।

मूल पाठ

*ते ण तत्थ सिद्धा हवंति सादीया अपज्जवसिया असरीरा जीवघणा दसणनाणोवउत्ता निट्ठियट्ठा निरेयणा

---

* ते तत्र सिद्धा भवन्ति सादिका, अपर्यवसिताः अशरीरा,

नीरया णिम्मला वितिमिरा विसुद्धा सासयमणागयद्ध काल चिट्ठति । से केणट्ठेण भते ! एव वुच्चइ—ते ण तत्थ सिद्धा भवन्ति सादीया अपज्जवसिया जाव चिट्ठन्ति ?, गोयमा ! से जहानामए बीयाण अग्गि-दड्ढाण पुणरवि अकुरुप्पत्ती ण भवइ, एवामेव सिद्धाण कम्मबीए दड्ढे पुणरवि जम्मुप्पत्ती न भवइ, से तेणट्ठेण गोयमा ! एव वुच्चइ---ते ण तत्थ सिद्धा भवति सादी-या अपज्जवसिया जाव चिट्ठन्ति ।

—औपपातिक सूत्र सिद्धाधिकार

सस्कृत—व्याख्या

'ते ण तत्थ सिद्धा हवति' त्ति ते पूर्वोद्दिष्टविशेषणा मनुष्याः 'तत्र' लोकाग्रे निष्ठितार्थाः स्युरिति, अनन च यत्केचन मन्यन्ते, यदुत—

रागादिवासनामुक्त चित्तमेव निरामयम् ।
सदाऽनियतदेशस्थ, सिद्ध इत्यभिधीयते ।।१।।

यच्चापरे मन्यन्ते—

जीवघना, दर्शनज्ञानोपयुक्ता', निष्ठितार्था, निरेजना, नीरजस, निर्मला', वितिमिरा., विशुद्धा, शाश्वतीमनागताद्धा काल तिष्ठन्ति । तत् केनाथन भदन्त ! एवमुच्यते—ते तत्र सिद्धा भवन्ति सादिकाः, अपर्यवसिता यावत्तिष्ठन्ति ? गौतम ! तद्यथानाम बीजानामग्निदग्धा-ना पुनरपि अ कुरोत्पत्तिर्न भवति, एवमेव सिद्धाना कर्मबीजे दग्धे पुनरपि जन्मोत्पत्तिर्न भवति । तत्तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते—ते तत्र सिद्धा भवन्ति सादिका अपर्यवसिता यावत् तिष्ठन्ति ।

गुणसत्त्वान्तरज्ञानान्निवृत्त-प्रकृति-क्रिया· ।
मुक्ता. सर्वत्र तिष्ठन्ति, व्योमवत्तापवर्जिता: ॥१॥

तदनेन निरस्त यच्चोच्यते-सशरीरतायामपि सिद्धत्वप्रतिपादनाय, यदुत —

अणिमाद्यष्टविध प्राप्यश्वर्य कृतिन सदा ।
मोदन्ते निर्वृतात्मानस्तीर्णाः परमदुस्तरम् ॥ १॥

इति तदपाकरणायाह—'अशरीरा' अविद्यमान-पञ्चप्रकारशरीरा:, तथ। 'जीवघण' त्ति योगनिरोधकाले रन्ध्रपूरणेन त्रिभागोनाऽवगाहना सन्त। जीवघना इति, 'दसणनाणोवउत्त' त्ति ज्ञान साकार, दर्शनम्—अनाकार तयो. क्रमेणोपयुक्ता ये ते तथा 'निट्ठियट्ठे' त्ति निष्ठितार्था—समाप्तसमस्तप्रयोजना. 'निरेयण' त्ति निरेजना—निश्चला: 'नीरय' त्ति नीरजसो-बध्यमानकर्मरहिता: नीरया वा—निर्गतौत्सुक्या, 'निम्मल' त्ति निर्मला पूर्वबद्धकर्मविनिर्मुक्ताः द्रव्यमलवर्जिता वा 'वितिमिर' त्ति विगताज्ञाना· 'विसुद्ध' त्ति कर्मविशुद्धिप्रकर्षमुपगता 'सासयमणागयद्ध काल चिट्ठति' शाश्वतीम्-अविनश्वरी सिद्धत्वस्याविनाशाद्, अनागताद्धा-भविष्यत्काल तिष्ठन्तीति 'जम्मुप्पत्ती' त्ति जन्मना-कर्मकृतप्रसूत्या उत्पत्तिर्या सा तथा, जन्मग्रहणेन परिणामान्तररूपात्तदुत्पत्तिर्भवतीत्याह, प्रतिक्षणमुत्पादव्ययध्रौव्य-युक्तत्वात्सद्भावस्येति ।

हिन्दी—भावार्थ

सिद्ध जीव मुक्ति मे विराजमान है, वे मुक्ति मे जाने की अपेक्षा से सादि है, मुक्ति से कभी वापिस नही आते है, इसलिए वे अनन्त है औदारिक, वैक्रिय आदि पञ्चविध शरीरो से रहित हैं, पोलार से रहित आत्मप्रदेश वाले है, दर्शन और ज्ञान रूप उपयोग के धारक है, कृतकृत्य है कम्पन से रहित है, कर्मरूप रज और मल से रहित है, अज्ञान रूप अन्धकार से रहित है,

सब प्रकार की विशुद्धि से युक्त है, अनन्त भविष्यत्काल तक मुक्ति मे विराजमान रहने वाले है।

हे भगवन् ! मुक्ति मे विराजमान सिद्धो को सादि, अनन्त आदि कहने का क्या कारण है ?

हे गौतम ! जैसे अग्नि से दग्ध बीजो मे पुन अकुरोत्पत्ति नही होने पाती है, इसी प्रकार कर्म-बीज के दग्ध होने पर सिद्धो की भी पुन जन्मोत्पत्ति नही होती है। इसीलिए कहा गया है कि मुक्ति मे विराजमान सिद्ध सादि अनन्त, अशरीरी, जीवघन आदि शब्दों से व्यवहृत होते है।

मूल पाठ

* जीवा ण भते ! सिज्झमाणा करयमि सघयणे सिज्झति ? गोयमा ! वइरोसभनारायसघयणे सिज्झति ।

हिन्दी—भावार्थ

गौतम स्वामी बोले—भगवन् ! सिध्यमान (सिद्धि को प्राप्त हो रहे) जीव किस सहनन मे सिद्ध होते है ?

भगवान बोले—गौतम ! वजर्षभनाराच नामक सहनन मे सिद्ध होते है।

---

* जीवा भदन्त ! सिध्यन्त: कतरस्मिन् सहनने सिध्यन्ति ? गौतम ! वज्रर्षभनाराचसहनने सिध्यन्ति ।

मूल पाठ

* जीवा ण सिज्झमाणा कयरम्मि सठाणे सिज्झति ?

गोयमा ! छण्ह सठाणाण अण्णतरे सठाण सिज्झति।

हिन्दी—भावार्थ

गौतम स्वामी बोले—भगवन् ! सिध्यमान (सिद्ध को प्राप्त हो रहे) जीव किस सस्थान में सिद्ध होते है ?

भगवान बोले—गौतम ! छह सस्थानो में से किसी भी एक सस्थान मे सिद्ध होते है ।

मूल पाठ

† जीवा ण भंते ! सिज्झमाणा कयरम्मि उच्चत्ते सिज्झन्ति ? गोयमा ! जहण्णेण सत्तरयणीओ उक्कोसेण पञ्चधणुस्सए सिज्झन्ति ।

सस्कृत—व्याख्या

'जहण्णण सत्तरयणीए' त्ति सप्तहस्ते उच्चत्वे सिध्यन्ति महावीरवत्, 'उक्कोसेण पचधणुस्सए' त्ति ऋषभस्वामिवद् एतच्च द्वयमपि तीर्थंकरापेक्षयोक्तम्, अतो द्विहस्तप्रमाणेन कूर्मापुत्रेण न व्याभिचारो, न वा मरुदेव्या सातिरेकपञ्चधनुःशतप्रमाणयेति ।

---

* जीवा भदन्त सिध्यन्त. कतरस्मिन् सस्थाने सिध्यन्ति ? गौतम ! षण्णा सस्थानानामन्यतरस्मिन् सस्थाने सिध्यन्ति ।

†जीवा भदन्त ! सिध्यन्तः कतरस्मिन् ऊच्चत्वे सिध्यन्ति ? गौतम ! जघन्येन सप्तरत्नयः, उत्कर्षेण पञ्चधनुश्शते सिध्यन्ति ।

हिन्दी—भावार्थ

गोतम स्वामी बोले—भगवन् ! सिध्यमान जीव कितनी ऊचाई मे सिद्ध होते है ?

भगवान बोले- गौतम ! जघन्य (कम से कम) सात हाथ की ऊचाई मे और उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) पाच सौ धनुष की ऊचाई मे जीव सिद्ध होते है ।

मूल पाठ

* जीवाण भते ! सिज्झमाणा कयरम्मि आउए सिज्झन्ति? गोयमा ! जहण्णेण साइरेगट्ठवासाउ उक्कोसेण पूव्वकोडियाउए सिज्झन्ति ।

सस्कृत—व्याख्या

'साइरेगट्ठवासाउए' त्ति सातिरेकाण्यष्टौ वर्षाणि यत्र तत्तथा तच्च तदायुश्चेति तत्र सातिरेकाष्टवर्षायुषि, तत्र किलाष्टवर्षवयाश्चरण प्रतिपद्यते, ततो वर्षे अतिगते केवलज्ञानमुत्पादय सिध्यतीति ! 'उक्कोसेण पुव्वकोडाउए' त्ति पूर्वकोटयायुर्नर पूर्वकोटया अन्ते सिध्यतीति न परत ।

हिन्दी—भावार्थ

गौतम स्वामी बोले—भगवन् ! सिध्यमान जीव कितनी आयु मे सिद्ध होते है ?

भगवान बोले—गौतम ! जघन्य कुछ अधिक आठ वर्ष की

---

* जीवा भदन्त ! सिध्यन्त' कतरस्मिन् आयुषि सिध्यन्ति? गौतम! जघन्येन सातिरेकाष्टवर्षायुष्का उत्कर्षेण पूर्वकोटिकायुष्का' सिध्यन्ति ।

आयु वाले तथा उत्कृष्ट करोड पूर्व की आयु वाले जीव सिद्ध होते है।

मूल पाठ

*अत्थि ण भते ! इमीसे रयणप्पहाए पुढवीए अहे सिद्धा परिवसन्ति ? णो इणट्ठे समट्ठे, एव जाव अहे सत्तमाए।

सस्कृत–व्याख्या

'ते ण तत्थ सिद्धा भवती' त्ति प्राक्तनवचनाद् यद्यपि लोकाग्र सिद्धाना स्थानमित्यवसीयते तथापि मुग्धविनेयस्य कल्पितत्रिविधलोकाग्रनिरासतो निरुपचरितलोकाग्रस्वरूपविशेषावबोधाय प्रश्नोत्तरसूत्रमाह— 'अत्थि ण' मित्यादि व्यक्त, नवर यदिद रत्नप्रभाया अधस्तदेव लोकाग्रमिति तत्र सिद्धा. परिवसन्तीति प्रश्नः, तत्रोत्तर—नायमर्थ समर्थ इति, एव सर्वत्र।

हिन्दी–भावार्थ

गौतम स्वामी बोले—भगवन् ! क्या इस रत्नप्रभा नामक पृथ्वी (नरक) के नीचे सिद्ध रहते है ?

भगवान बोले—गौतम ! रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे सिद्ध नही रहते है। इसी प्रकार यावत् सातवी पृथ्वी के नीचे भी सिद्ध नही रहते है।

---

* अस्ति भदन्त ! अस्याः रत्नप्रभायाः पृथिव्या. अध. सिद्धा. परिवसन्ति ? नायमर्थ. समर्थः, एव यावत् अध. सप्तम्याः।

* अत्थि ण भते ! सोहम्मस्स कप्पस्स अहे सिद्धा परिवसन्ति ? णो इणट्ठे समट्ठे, एव सव्वेसि पुच्छा। ईसाण स्स, सणकुमारस्स जाव अच्चुयस्स गेविज्जविमाणाण अणुत्तरविमाणाण।

हिन्दी-भावार्थ

गौतम स्वामी ने पूछा भगवन् ! क्या सिद्ध सौधर्म नामक प्रथम देवलोक के नीचे रहते है ?

भगवान ने कहा—गौतम ! नही रहते है।

जिस प्रकार प्रथम देवलोक के सम्बन्ध मे पृच्छा की गई है, उसी प्रकार ईशान, सनत्कुमार यावत् अच्युत, ग्रेवैयक विमान तथा अनुत्तर विमानो के सम्बन्ध मे भी पृच्छा की गई और भगवान ने सब के सम्बन्ध मे "नही रहते है" यही उत्तर दिया।

मूल पाठ

‡ अत्थि भते ! ईसीपब्भाराए पुढवोए अहे सिद्धा परिवसन्ति ? णो इणट्ठ समट्ठे।

---

* अस्ति भदन्त ! सौधर्मस्य कल्पस्य अध सिद्धा परिवसन्ति ? नायमर्थ समर्थ, एव सर्वेषा पृच्छा। ईशानस्य, सनत्कुमारस्य यावदच्युतस्य, ग्रैवेयकविमानानाम्, अनुत्तरविमानानाम्।

‡ अस्ति भदन्त ! ईषत्प्राग्भाराया पृथ्व्या अध. सिद्धा परिवसन्ति ? नायमर्थः समर्थ.।

हिन्दी–भावार्थ

गौतम स्वामी बोले—भगवन् ! ईषत्प्राग्भारा (सिद्धशिला) के नीचे क्या सिद्ध रहते है ?

भगवान बोले—गौतम ! नही रहते है ।

मूल पाठ

*से कहि खाइ ण भते ! सिद्धा परिवसन्ति ?

गोयमा ! इमीसे रयणप्पहाए पुढवीए बहुसम-रमाणज्जाओ भूमिभागाओ उड्ढ चदिम-सूरिय-ग्गह-गण-णक्खत्त-तारा-भवणाओ बहूइ जोयणसयाइ बहूइ जोयणसहस्साइ बहूइ जोयणसयसहस्साइ बहूओ जोयणकोडीओ बहूओ जोयणकोडाकोडीओ उड्ढतर उप्पइत्ता सोहम्मीसाण–सणकुमार–माहिद–बभ–लत्तग-महासुक्क–सहस्सार–आणय–पाणय–आरणच्चुय तिण्णि य अट्ठारे गेविज्जविमाणावाससए वीइवइत्ता विजय-वेजयत–जयन्त–अपराजिय–सव्वट्ठसिद्धस्स य महावि-माणस्स सव्व-उप-रिल्लाओ थूभियग्गाओ दुवालस-जोयणाइ अबाहाए एत्थ ण ईसीपब्भारा णाम पुढवी पण्णत्ता पणयालीस जोयण-सय-सहस्साइ आयाम-विक्ख-

---

* अथ कुत्र भदन्त ! सिद्धा परिवसन्ति ? गौतम ! अस्य रत्नप्रभा-या पृथिव्या बहुसमरमणीयाद् भूमिभागाद् ऊर्ध्वं चन्द्रमस्-सूर्य-ग्रह–गण-

भेण एगा जोयणकोडी बायालीस सयसहस्साइ तीसं च सहस्साइ दोण्णी य अउणापण्णे जोयणसए किंचि-विसेसाहिए परिरएण, ईसिपब्भारा य ण पुढवीए बहु-मज्झदेसभाए अट्ठ जोयणिए खेत्ते अट्ठ जोयणाइ बाहल्लेण, तयाणतर च ण मायाए-मायाए पडिहाएमाणी-पडिहाएमाणी सव्वेसु चरिमपेरतेसु मच्छियपत्ताओ तणु-यतरा अगुलस्स असखेज्जइभाग बाहल्लेण पण्णत्ता।

ईसीपब्भाराए ण पुढवीए दुवालस णामधेज्जा पण्णत्ता तजहा—ईसी इ वा, इसीपब्भारा इ वा, तणू इ वा, तणू-तणू इ वा, सिद्धी इ वा, सिद्धालए इ वा, मुत्ति इ वा, मुत्तालए इ वा, लोयग्गे इ वा, लोयग्गथू-भिया इ वा, लोयग्गपडिवुज्झणा इ वा, सव्व-पाण-भूय-जीव-सत्त-सुहावहा इ वा।

नक्षत्र-तारा-भवनेभ्यो बहूनि योजनशतानि बहूनि यौजन-सहस्राणि, बहूनि योजन-शत-सहस्राणि, बह्वी योजनकोटी, बह्वी योजनकोटाकोटी ऊर्ध्वतरमुत्पत्य सौधर्मेशान-सनत्कुमार-माहेन्द्र-ब्रह्म-लान्तक-महाशुक्र-सहस्रार-आनत-प्राणत-आरणाच्युतान् त्रीणि च अष्टादश ग्रैवेयक-विमानावास-शतानि व्यतिव्रज्य विजय-वैजयन्त-जयन्त-अपराजित-सर्वार्थसिद्धस्य च महाविमानस्य सर्वोपरितनाया स्तूपिकाग्राया द्वादश-योजनानि अबाधया अत्र ईषत्प्राग्भारा नाम पृथ्वी प्रज्ञप्ता, पञ्चचत्वा-रिंशद्योजन-शतसहस्राणि आयामविष्कम्भेण एका योजनकोटिः द्विचत्वा-

ईसीपब्भारा ण पुढवी सेया सख–तल–विमल–सोल्लिय–मुणाल–दग–रय–तुसार–गोक्खीर–हार–वण्णा उत्ताणय–छत्त–सठाण–सठिया सव्वज्जुण–सुवण्णमई अच्छा सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा णीरया णिम्मला णिप्पका णिक्ककडच्छाया समरीचिया सुप्पभा पासादोया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा, ईसीपब्भाराए ण पुढवीए सीयाए जोयणमि लोगते, तस्स जोयणस्स जे से उवरिल्ले गाउए, तस्स ण गाउअस्स जे से उवरिल्ले छभागिए, तत्थ ण सिद्धा भगवतो

रिंशत् शतसहस्राणि त्रिशच्च सहस्राणि द्वे च एकोनपञ्चाशद् योजनशतानि किञ्चिद्विशेषाधिकानि परिरयेण ईषत्प्राग्भाराया पृथिव्या बहुमध्यदेशभागे अष्टयोजनके क्षेत्रे अष्टयोजनानि बाहल्येन तदानन्तर च मात्रया-मात्रया परिहीयमाना-परिहीयमाना सर्वेषु चरमपर्यन्तेषु मक्षिका-पत्रात् तनुकतरा अगुलस्यासख्येयभागा बाहल्येन प्रज्ञप्ता ।

ईषत्प्राग्भाराया. पृथिव्या द्वादश नामधेयानि प्रज्ञप्तानि तद्यथा—ईषद् इति वा, ईषत्प्राग्भारा इति वा, तनू इति वा, तनूतनू इति वा, सिद्ध इति वा, सिद्धालय इति वा, मुक्तिरिति वा, मुक्तालय इति वा लोकाग्रमिति वा, लोकाग्रस्तूपिका इति वा, लोकाग्रप्रतिबोधना इति वा, सर्व-प्राण-भूत-जीव-सत्त्व-सुखावहा इति वा । ईषत्प्राग्भारा पृथिवी श्वेता शखतलविमल-सोल्लिय-मृणाल-दक-रज:-तुषार-गोक्षीर-हारवर्णा, उत्तान-छत्र-सस्थानसस्थिता सर्वार्जुनसुवर्णमयी अच्छा, श्लक्ष्णा, मसृणा, घृष्टा, मृष्टा, नीरजा, निर्मला, निष्पका, निष्ककट-च्छाया, समरीचिका,

सादीया अपज्जवसिया अणेग--जाइ--जरा--मरण-जोणि-वेयण--ससारकलकली-भावपुणब्भव--गब्भ-वास-वसही-पवच-समइक्कता सामयमणागयमद्ध चिट्ठन्ति ।मू०४३।

—औपपातिक सूत्र सिद्धाधिकार

संस्कृत—व्याख्या

'से कहि खाइ ण भते !' त्ति इत्यत्र सेत्ति-तत कहि ति-क्व देशे खाइ ण ति—देशभाषया वाक्यालकारे 'बहुसमे' त्यादि बहुसमत्वेन रमणीयो य स तया तस्मात् 'अबाहाए' त्ति अबाधया-अन्तरेण 'ईसिपब्भार' त्ति ईषद्—अल्पो न रत्नप्रभादिपृथिव्या इव महान प्राग्भारो-महत्त्व यस्या सा ईषत्प्राग्भारा । नामधेयानि व्यक्तान्येव, नवर 'ईसित्ति' वा-ईषत्-अल्पा पृथिव्यन्तरापेक्षया, इति शब्द उपप्रदर्शने, वा शब्दा विकल्पे, 'लोयग्गपडिबुज्झणा इ व' त्ति लोकाग्रमिति प्रतिबुध्यते अवसीयते यया रा तया, 'सव्व-पाण-भूय-जीव-सत्त-सुहावह' त्ति इह प्राणा-द्वीन्द्रियादय भूता-वनस्पतय जीवा.-पञ्चेन्द्रिया पृथिव्यादयस्तु—सत्त्व : एतेषा च पृथिव्यादिनया तत्रोत्पन्नाना सा सुखावहा शीतादिदुखहेतूनामभावादिति, 'सेय' त्ति श्वेता, एतदेवाह 'आयसतल--विमल-सोल्लिय--मुणाल--दग-रय-तुसार--गोक्खीर-

---

सुप्रभा, प्रासादीया, दर्शनीया, अभिरूपा प्रतिरूपा, ईषत्प्राग्भाराया पृथिव्याः श्वेताया योजने लोकान्त, तस्य योजनस्य यत्तद् उपरितन गव्यत, तस्य गव्यूतस्य य स उपरितन षड्भागिक:, तत्र सिद्धा भगवन्त सादिका अपर्यवसिना अनेक-जाति-जरा-मरण-योनि-वेदना-ससार-कलकलीभाव-पुनर्भव-गर्भवास-वसति-प्रपचसमतिक्रान्ता', शाश्वतीमनागतामद्धा तिष्ठन्ति ।

हार-वण्ण' त्ति व्यक्तमेव, नवरम्, आदर्शतल-दर्पणतल क्वचिच्छङ्ख-तलमिति पाठ , आदर्शतलमिव विमला या सा तथा, 'सोल्लिय' त्ति कुसुमविशेष , 'सव्वज्जुणसुवण्णमई' त्ति अर्जुनसुवर्ण-श्वेतकाञ्चन, अच्छा आकाशस्फटिकमिव 'सण्ह' त्ति श्लक्ष्णपरमाणुस्कन्धनिष्पन्ना श्लक्ष्णतन्तुनिष्पन्नपटवत् 'लण्ह' त्ति मसृणा घुण्टितपटवत् 'घट्ठ' त्ति घृष्टेव घृष्टा खरशानया पाषाणप्रतिमावत् 'मट्ठ' त्ति मृष्टेव मृष्टा सुकुमारशानया प्रतिमेव शोधिता वा प्रमार्जनिकयेव, अत एव 'णीरय' त्ति नीरजा —रजोरहिता 'णिम्मला' कठिनमलरहिता 'णिप्पक' त्ति निष्पका-आर्द्रमलरहिता अकलका वा 'णिक्ककडच्छाय' त्ति निष्कङ्क-टा-निष्कवचा निरावरणेत्यर्थ. छाया-शोभा यस्या सा तथा 'अकलक-शोभा वा, 'समरीचिय' त्ति समरीचिका-किरणयुक्ता, अतएव 'सुप्पभ' त्ति सुष्ठु प्रकर्षेण च भाति-शोभते या सा सुप्रभेति 'पासादीय' त्ति प्रासादो-मन प्रमोद प्रयोजन यस्या. सा प्रासादीया 'दरसणिज्ज' त्ति दर्शनाय-चक्षुर्व्यापाराय हिता दर्शनीया, ता पश्यच्चक्षुर्न श्राम्यती-त्यर्थः, 'अभिरूव' त्ति अभिमत रूप यस्याः सा अभिरूपा, कमनीयेत्यर्थ', 'पडिरूव' त्ति द्रष्टारं द्रष्टार प्रति रूप यस्या सा प्रतिरूपा, 'जोयणमि लोगते' त्ति इह योजनमुत्सेधागुलयोजनमवसेय, तदीयस्यैव हि क्रोशषड-भागस्य सत्रिभागस्त्रयस्त्रिंशदधिकधनु शतत्रयीप्रमाणत्वादिति, 'अणेग-जाइ--जरा--मरण--जोणिवेयण' अनेकजातिजरामरणप्रधानयोनिषु दना यत्र स तथा त 'ससार-कलकलीभाव-पुणब्भव-गब्भ-वास-वसही-पवचमइक्कता' ससारे कलङ्कलीभावेन असमञ्जसत्वेन ये पुनर्भवाः—पौन पुन्येनोत्पादा गर्भवासवसतयश्च-गर्भाश्रयनिवासास्तासा यः प्रपचो— विस्तर, स तथा तमतिक्रान्ता.-निस्तीर्णा , पाठान्तरमिदम्, "—अणेग-जाइ-जरा-मरण-जोणि--ससार--कलकली--भाव--पुण-ब्भवगब्भवास-वसहिपवचसमइक्क ा' त्ति अनेक-जाति-जरामरण-प्रधाना

यानयो यत्र स तथा स चासौ ससारश्चेति समास , तत्र कलङ्कलीभावेन य पुनर्भवेन—पुन:पुनरुत्पत्त्या गर्भवासवसतीना प्रपञ्चस्त समतिक्रान्ता ये ते तथा । (अभयदेवसूरिकृत-वृत्ति)

हिन्दी–भावार्थ

श्री गौतम स्वामी ने पूछा—हे भगवन् ! सिद्ध कहा पर रहते है ?

भगवान बोले—हे गौतम ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के अत्यन्त समतल एव रमणीय भूमिभाग से ऊपर चन्द्रमा, सूर्य, ग्रहगण, नक्षत्र और ताराओ के भवन है। उन से सैकडो, हजारो, लाखो, करोडो, कोटाकोटियो योजन ऊपर जाकर सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण, अच्युत नामक देवलोक है। इन से ऊपर तीन सौ १८ ग्रैवेयक विमान है। इन से उपर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित, सर्वार्थसिद्ध ये महाविमान है। सर्वार्द्धसिद्ध महाविमान की ऊपर की स्तूपिका के अग्रभाग से १२ योजन की दूरी पर ईषत्प्राग्भारा (सिद्धशिला) नामक पृथ्वी है, जो कि ४५ लाख योजन की लम्बी और इतनी ही चौडी है। इस की परिधि (घेरा) एक करोड बयालीस लाख, तीस हज़ार दो सौ उनचास योजन से कुछ अधिक है। ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी के सममध्यप्रदेश मे आठ योजन का क्षेत्र आठ योजन की मोटाई वाला है। इस से आगे क्रमश: थोडी-थोडी हीन होती हुई अन्त मे मक्षिका के पख से भी अधिक तनुतर (सूक्ष्मतर) तथा अगुल के असख्यातवें भाग जितनी इस की मोटाई रह जाती है।

ईषत्प्राग्भारा पृथिवी को १२ नामो से व्यवहृत किया जाता है। वे नाम इस प्रकार है—

१. ईषत्, २ ईषत्प्राग्भारा, ३ तनू,
४. तनूतनू, ५ सिद्धि, ६ सिद्धालय.
७ मुक्ति, ८ मुक्तालय, ९ लोकाग्र
१० लोकाग्रस्तूपिका, ११ लोकाग्रप्रतिबोधना,
१२ सर्वप्राणभूत-जीव-सत्त्व-सुखावहा ।

ईषत्प्राग्भारा पृथिवी श्वेत है, शखतल के समान विमल-निर्मल है, सोल्लिय (पुष्पविशेष), मृणाल-कमलनाल, दकरज-पानी की झाग, तुषार-ओसविन्दु, गोक्षीर-गाय का दूध, हार (मोतियो का हार) के समान श्वेत वर्ण वाली है। छत्र को उलटा करके रखने से उस का जो आकार बनता है, वही आकार ईषत्प्राग्भारा पृथिवी का होता है। ईषत्प्राग्भारा पृथिवी सारी की सारी श्वेत सुवर्णमयी है, वह स्वच्छ है, श्लक्ष्ण-चिकनी है, मसृण है—इस्तरी किए हुए वस्त्र के समान कोमल है, घृष्ट है—घिसे हुए पाषाण के समान स्पर्श वाली है, मृष्ट है—चीकनी है, चमकदार है, नीरज है—धूलिरहित है, निर्मल है-मलरहित है, निष्पक है, कीचड-रहित है।

ईषत्प्रभाग्भारा पृथिवी स्निग्धछाया वाली है, किरणो से युक्त है, अच्छा—प्रभा, कान्ति वाली है, चित्ताकर्षक है, दर्शनयोग्य है, सुन्दर है, अत्यन्त सुन्दर है।

ईषत्प्राग्भारा पृथिवी के एक योजन ऊपर लोकान्त है। उस योजन के ऊपर के कोस के छठे भाग मे सिद्ध भगवान विराजमान है। वे सिद्ध सादि, अनन्त, जन्म, जरा, मृत्यु और योनि (उत्पत्तिस्थान) की अनेकविध वेदना से रहित है। ससार के कलकलीभाव (विषमता), पुनर्भव-पुन पुन उत्पन्न होना,

गर्भावास-गर्भ मे निवास करना, इन सब प्रपचो से वे रहित है। सिद्ध भगवान भविष्यत्काल मे सदा के लिए मोक्ष मे विराजमान रहेगे।

मूल पाठ

* अत्थि एग धुव ठाण, लोगग्गमि दुरारुह।
जत्थ नत्थि जरा मच्चू, वाहिणो वेयणा तहा॥

— उत्तराध्ययन सूत्र अ० २३/८१

सस्कृत—व्याख्या

अस्त्येकमद्वितीय ध्रुव शाश्वतं स्थान लोकाग्रे 'दुरारुह' त्ति दु खेनारुह्यतेऽध्यास्यते इति दुरारोहम्। दुरापेणैव सम्यग्दर्शनादित्रयेन तस्य प्राप्यत्वात्। यत्र न सन्ति जराऽऽदीनि प्रतीतानि, वेदना शरीरादिपीडा ततश्च व्याध्यभावत क्षेमत्व, जरा-मरणाभावतः शिवत्व, वेदनाऽभावतोऽनाबाधत्वमुक्तमिति यथायोग भावनीयम्।

हिन्दी—भावार्थ

लोक के अग्रभाग मे एक ध्रुव-नित्य स्थान है, जिस पर आरोहण करना अत्यन्त कठिन है। उस स्थान मे अवस्थित जीवो को न जरा-बुढापा है, न मृत्यु है, न व्याधिया है और न नाही वेदनाए होती है।

---

* अस्त्येकं ध्रुव स्थान, लोकाग्रे दुरारोह।
यत्र नास्ति जरा मृत्यु, व्याधयो वेदनास्तथा॥

मूल पाठ

* निव्वाण ति अबाह ति सिद्धी लोगग्गमेव य।
खेम सिव अणावाह, ज तरति महेसिणो ॥

सस्कृत—व्याख्या

निर्वाति कर्माग्निविध्यापनाच्छीतीभवन्त्यस्मिन्निति निर्वाण इति शब्द स्वरूपप्रदर्शको यत्रापि नास्ति तत्राप्यध्याहार्य तत 'उच्यते इत्यध्याहृत्य' निर्वाणमिति यदुच्यते, अबाधमिति यदुच्यते, सिद्धिरिति यदुच्यते, लोकाग्रमिनि यदुच्यत इति व्याख्येयम्। क्षेम शिवमनाबाधमिति च प्राग्वत्। यदति यत् स्थान 'विभक्तिव्यत्ययाद्' यत्र स्थाने वा तरन्ति प्लवन्ते गच्छन्तीत्यर्थो महर्षयो महामुनय.।

हिन्दी—भावार्थ

जिस स्थान को महर्षि लोग प्राप्त करते है, उस स्थान को निर्वाण, अबाध, सिद्ध, लोकाग्र, क्षेम, शिव और अनाबाध कहा जाता है।

मूल पाठ

‡ त ठाण सासयवास, लोगग्गमि दुरारुह।
ज सम्पत्ता न सोयन्ति, भवोहन्तकरा मुणी ॥

—उत्तराध्ययन अ. २३-८४

---

* निर्वाणमिति अबाधमिति सिद्धिः लोकाग्रमेव च।
क्षेम शिवमनाबाध, यत्तरन्ति महर्षय ॥

‡ तत्स्थान शाश्वतवास, लोकाग्रे दुरारोह।
यत् सम्प्राप्ता न शोचन्ति, भवौघान्तकरा. मुनय ॥

सस्कृत—व्याख्या

नत् स्थानम् 'उक्तमिति प्रक्रम:' । 'बिन्दोरलाक्षणिकत्वात्' शाश्वतवास नित्यावस्थित ध्रुवमिति यावत् । लोकाग्रे दुरारुहम् 'उपलक्षणत्वाज्जरादयभाववचच' यत् सम्प्राप्ता न शोचन्ते । कीदृशा. सन्त· ? इत्याह—भवा नारकादयस्तेषामोघ पुन पुनर्भावरूप प्रवाहस्तस्यान्तकरा पर्यन्तविधायिनो भवौघान्तकरा मुनय इति ।

हिन्दी—भावार्थ

उस स्थान मे जीव सदा के लिये रहते है, वह स्थान लोक के अग्रभाग पर स्थित है, दुरारोह है, उस पर आरोहण करना कठिन है, उस स्थान को प्राप्त करने वाले जीव कभी शोक को प्राप्त नही होते है तथा भवपरम्परा का अन्त करने वाले मुनि उसे प्राप्त करते है ।

मूल पाठ

* सिद्धा णं भन्ते ! कि वड्ढति, हायति, अवट्ठिया ?
गोयमा ! सिद्धा वड्ढति, णो हायति, अवट्ठिया ।

—भगवतीसूत्र शतक ५. उ० ८

हिन्दी—भावार्थ

भगवान गौतम बोले—भगवन् ! क्या सिद्ध बढते है ? घटते है अथवा अवस्थित रहते है, अर्थात् न बढते है और न घटते है ?

भगवान महावीर बोले—गौतम ! सिद्ध बढते है, घटते नही

* सिद्धा भदन्त ! कि वर्धन्ते, हीयन्ते, अवस्थिता: ?
गौतम ! सिद्धा वर्धन्ते, नो हीयन्ते, अवस्थिता: ।

और अवस्थित भी रहते है ।

मूल पाठ

* सिद्धा ण भते ! केवइय काल वड्ढति ?

गोयमा ! जहण्णेण एक्क समय, उक्कोसेण अटठसमया ।

हिन्दी—भावार्थ

भगवान गौतम बोले—भगवन् ! सिद्ध कितने काल तक बढते हैं ?

भगवान महावीर बोले—गौतम ! कम से कम एक समय तक और अधिक से अधिक आठ समय तक ।

मूल पाठ

† सिद्धा ण भते ! केवइय काल अवट्ठिया ?

गोयमा ! जहण्णेण एक्क समय, उक्कोसेण छम्मासा ।

हिन्दी—भावार्थ

भगवान गौतम बोले—भगवन् ! सिद्ध कितने काल तक अवस्थित रहते है ?

भगवान महावीर बोले—गौतम ! कम से कम एक समय तक और अधिक से अधिक छह मास तक ।

---

* सिद्धा भदन्त ! कियन्त काल वर्धन्ते ?

गौतम ! जघन्येन एक समयमुत्कर्षेण अष्ट समयान् ।

† सिद्धा भदन्त ! कियन्त कालमवस्थिताः ?

गौतम ! जघन्येन एकं समयमुत्कर्षेण षण्मासान् ।

मूल पाठ

* सिद्धा ण भते ! कि सोवचया, सावचया, सोवचय-सावचया, णिरुवचयणिरवचया ?

गोयमा ! सिद्धा सोवचया, णो सावचया, णो सोवचयसावचया, णिरुवचयणिरवचया ।

हिन्दी–भावार्थ

भगवान गौतम बोले—भगवन् ! सिद्ध क्या सोपचय—वृद्धि वाले है, सापचय है–हानि वाले है, सोपचयसापचय है—वृद्धि और हानि वाले है, तथा निरुपचय-निरपचय है—वृद्धि तथा हानि वाले नही है ?

भगवान महावीर बोले—गौतम ! सिद्ध सोपचय है, सापचय नही है, सोपचय-सापचय नही है तथा निरुपचय-निरपचय है ।

मूल पाठ

† सिद्धा णं भन्ते ! केवइय काल सोवचया ?

गोयमा! जहण्णेण एग समय, उक्कोसेण अट्ठसमया ।

---

* सिद्धा भदन्त ! कि सोपचया:, सापचया:, सोपचयसापचया:, निरुपचयनिरपचया: ?

गौतम ! सिद्धा. सोपचया. नो सापचया , नो सोपचय-सापचया., निरुपचयनिरपचया:.

† सिद्धा भदन्त ! कियन्तं काल सोपचया: ?

गौतम ! जघन्येन एकं समयमुत्कर्षेण अष्टसमयान् ।

भगवान गौतम बोले—भगवन् ! सिद्ध कितने काल तक सोपचय-वृद्धि वाले होते है ?

भगवान महावीर बोले—गौतम ! कम से कम एक समय तक और अधिक से अधिक आठ समय तक ।

मूल पाठ

* सिद्धा ण भते ! केवइय काल णिरुवचयणिरवचया ?

गोयमा ! जहण्णेण एग समय, उक्कोसेण छम्मासा ।

हिन्दी—भावार्थ

भगवान गौतम बोले—भगवन् ! सिद्ध कितने काल तक निरुपचय-निरपचय है, एक साथ वृद्धि, हानि से रहित है ।

भगवान महावीर बोले—गौतम ! कम से कम एक समय तक और अधिक से अधिक छह मास तक । अर्थात् इतने काल तक सिद्ध अवस्थित रहते है ।

* परमात्मा अनादि है *

मूल पाठ

† तेण कालेणं तेणं समएण समणस्स भगवओ महावीरस्स अन्तेवासी रोहे णामं अणगारे पगइ–भद्दए पगइ-मउए पगइ-विणीए पगइ-उवसंते पगइ-पयणुकोह-

---

* सिद्धा भदन्त ! कियन्तं काल निरुपचयनिरपचया: ?

गौतम ! जघन्येन एक, समयमुत्कर्षेण षण्मासान् ।

† तस्मिन् काले तस्मिन् समये श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अन्ते-

माण-माया-लोभे मिउ-मद्दव-सपन्ने अल्लीणे भद्दए वि-णीए समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूर-सामते उड्ढ-जाणु अहोसिरे झाण-कोट्ठोवगए सजमेण तवसा अप्पाण भावेमाणे विहरइ। तए ण से रोहे णाम अणगारे जाय-सड्ढे जाव पज्जुवासमाणे एव वदासी—

पुव्वि भते ! लोए, पच्छा अलोए ? पुव्वि अलोए पच्छा लोए ?

रोहा ! लोए य अलोए य पुव्वि पेते, पच्छापेते। दोवि एए सासया भावा अणाणुपुव्वी एसा रोहा ! ।

पुव्वि भते ! जीवा, पच्छा अजीवा पुव्वि? अजीवा पच्छा जीवा ? जहेव लोए य अलोए य तहेव जीवा य

वासी रोहो नाम अनगार प्रकृति-भद्रक, प्रकृतिमृदुक, प्रकृतिविनीत, प्रकृति-उपशान्तः, प्रकृतिप्रतनु-क्रोध-मान-माया-लोभ, मृदुमार्दवसम्पन्न, आलीन, भद्रक, विनीतः, श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अदूरसामन्ते ऊर्ध्वजानुः, अधःशिरा, ध्यानकोष्ठोपगत. सयमेन तपसा आत्मान भावयन् विहरति। तत स रोहो नाम अनगारो जातश्रद्धः, यावत् पर्युपासमान एवमवदत्—

पूर्वं भदन्त ! लोक, पश्चाद् अलोक.?, पूर्वमलोक., पश्चाल्लोक ?

रोह ! लोकश्च अलोकश्च पूर्वमपि एतौ, पश्चादपि एतौ। द्वावपि एतौ शाश्वतौ भावौ। अनानुपूर्वी एषा रोह !

पूर्वं भदन्त ! जीवा, पश्चाद् अजीवा ? पूर्वमजीवा पश्चाज्जीवा? यथैव लोकश्च अलोकश्च, तथैव जीवाश्च, अजीवाश्च। एव भव-

अजीवा य, एवं भवसिद्धिया य अभवसिद्धिया य सिद्धो असिद्धो सिद्धा असिद्धा ।

पुव्वि भते ! अडए, पच्छा कुक्कुडो ?, पुव्वि कुक्कुडो पच्छा अडए ?

रोहा ! से ण अडए कओ ? भयव ! कुक्कुडिओ । सा ण कुक्कुडी कओ?, भते ! अडयाओ । एवामेव रोहा! से य अडए सा य कुक्कुडी, पुव्वि पेते पच्छा पेते । दुवेते सासया भावा, अणाणुपुव्वी एसा रोहा !

पुव्वि भते! लोयंते, पच्छा अलोयते?, पुव्विं अलोयंते, पच्छा लोयते ? रोहा ! लोयते अलोयते य जाव अणाणुपुव्वी एसा रोहा !

सिद्धिकाश्च, अभवसिद्धिकाश्च, सिद्धि:, असिद्धि:, सिद्धा:, असिद्धा:, पूर्वं भदन्त ! अडक, पश्चात् कुक्कुटी, पूर्वं कुक्कुटी, पश्चाद् अडकम् ? रोह ! तद् अंडक कुत ? भगवन् ! कुक्कटीत:, सा कुक्कटी कुत: ? भदन्त ! अडकत । एवमेव रोह ! तच्च अण्डक सा च कुक्कुटी, पूर्वमपि एते, पश्चादपि एते, द्वावपि तौ शाश्वतौ भावौ, अनानुपूर्वी एषा रोह ! पूर्वं भदन्त ! लोकान्त ? पश्चादलोकान्त ? पूर्वमलोकान्त, पश्चाल्लोकान्तम् ? रोह ! लोकान्तञ्चालोकान्त च यावद् अनानुपूर्वी एषा रोह ! पूर्वं भदन्त ! लोकान्त, पश्चात् सप्तममवकाशान्तर ? पृच्छा, रोह ! लोकान्त च सप्तममवकाशान्तरं पूर्वमपि द्वावपि एतौ यावदनानुपूर्वी एषा रोह ! एव लोकान्त च सप्तमश्च तनुवात:, एव घनवात, घनोदधि:, सप्तमा पृथ्वी, एवं लोकान्तमेकैकेन संयोजयितव्य-

पुव्वि भंते ! लोयंते, पच्छा सत्तमे उवासंतरे? ,पुच्छा। रोहा ! लोयन्ते य सत्तमे उवासन्तरे पुव्विं पि दोवि एते जाव अणाणुपुव्वी एसा रोहा ! एवं लोयंते य, सत्तमे य, तणुवाए एवं घणवाए घणोदही सत्तमा पुढवी, एवं लोयंते एक्केक्केण संजोयव्वे इमेहिं ठाणेहिं तंजहा—

ओवासवायघणउदही,पुढवी दीवा य सागरा वासा।
नेरइयाई अत्थिय समया कम्माइ लेस्साओ ॥१॥
दिट्ठी दंसण णाणा सन्न सरीरा य योग उवओगे।
दव्व—पएसा पज्जव अद्धा किं पुव्विं लोयंते ॥२॥

भिः स्थानैः तद्यथा—अवकाश—वात—घनो—दधि—पृथ्वी—द्वीपाश्च सागराः, वर्षाणि, नैरयिकादिः अस्तिकाय, समया, परमाणुः, लेश्या, ॥१॥ दृष्टयः, दर्शनानि, ज्ञानानि, संज्ञाः, शरीराणि च, योगा, उपयोगौ द्रव्यप्रदेशाः, पर्यवाः, अद्धा, किं पूर्वं लोकान्तम् ॥२॥ पूर्वं भदन्त ! लोकान्त, पश्चात्सर्वाद्धा। यथा लोकान्तेन संयोजितानि सर्वाणि स्थानानि एतानि, एवमलोकान्तेनापि संयोजयितव्यानि सर्वाणि। पूर्वं भदन्त ! सप्तम-मवकाशान्तरं पश्चात्सप्तमः तनुवातः, एवं सप्तममवकाशान्तरं सर्वैः समं संयोजयितव्यं यावत् सर्वाद्धया। पूर्वं भदन्त ! सप्तमं तनुवातः पश्चात् सप्तमो घनवातः ? एतदपि तथैव नेतव्यं यावत् सर्वाद्धा। एवमुपरितनमेकैकं संयोजयता यद् यद् अधस्तनं तत्तद् छड्डयिता नेतव्यं यावद् अतीतानागताद्धा, पश्चात्सर्वाद्धा, यावद् अनानुपूर्वी, एषा रोह ! तदेव भदन्त !, तदेव भदन्त ! इति यावद् विहरति।

पुव्वि भते ! लोयते, पच्छा सव्वद्धा ? जहा लोयतेण सजोइया सव्वे ठाणा एते एव अलोयतेण वि सजोएव्वा सव्वे ।

पुव्वि भते ! सत्तमे उवासतरे, पच्छा सत्तमे तणुवाए? एव सत्तम उवासतर सव्वेहि सम सजोएयव्व जाव सव्वद्धाए ।

पुव्वि भते! सत्तमे तणुवाए, पच्छा सत्तमे घणवाए? एय पि तहेव नेयव्व जाव सव्वद्धा, एव उवरिल्ल क्केक्क सजोयतेण जो-जो हिठिल्लो त-त छड्डतेण नेयव्व जाव अतीय–अणागयद्धा पच्छा सव्वद्धा जाव अणाणुपुव्वी एसा रोहा! सेव भते! सेव भते ! त्ति जाव विहरइ ।

(भगवती सूत्र शतक १, उद्देशक ६)

सस्कृत–व्याख्या

'पगइभद्दए त्ति' स्वभावत एव परोपकारकरणशील 'पगइ-मउए त्ति' स्वभावत एव भावमार्दविक, अतएव 'पगइ-विणीए' त्ति तथा 'पगइ-उवसते' त्ति क्रोधोदयाभावात्, 'पगइ-पयणु-कोहमाण-मायालोभे' सत्यपि कषायोदये तत्कार्याभावात् प्रतनुक्रोधादि-भाव, 'मिउमद्दवसपन्ने' त्ति मृदु यन्मार्दवम्—अत्यर्थमहकृतिजयस्तत्स-पन्न-प्राप्तो गुरूपदेशात् यः स. तथा, 'आलीणे' त्ति गुरुसमाश्रित सँलीनो वा 'भद्दए त्ति' अनुपतापको गुरुशिक्षागुणात् 'विणीए' त्ति, गुरुसेवागुणात् 'भवसिद्धिया य' त्ति भविष्यतीति भवः, भवा सिद्धि—निर्वृतिर्येषावते भसिद्धिका भव्या इत्यर्थ. । 'सत्तमे उवासतरे' त्ति

सप्तम-पृथिव्या, अधोवर्त्याकाशमिति। सूत्र —सग्रहगाथे के ? 'तत्र 'ग्रोवासे' त्ति सप्तावकाशान्तराणि 'वाय' त्ति तनुवाता, घनवाता 'घण-उदहि' त्ति घनोदधय सप्त, 'पुढवी' त्ति नरक-पृथिव्या सप्तैव दीवा-जबूद्वीपादयोऽसख्याता असख्येया एव सागरा लवणादय', 'वास' त्ति वर्षाणि भरतादीनि सप्तैव 'नेरयाइ' त्ति चतुर्विशति-दंण्डका. 'अत्थिय' त्ति अस्तिकाया. 'पचसमय' त्ति काल-विभाग: कर्माण्यष्ट, लेश्या षट्, दृष्टयो—मिथ्यादृष्टयादयस्तिस्र, दर्शनानि चत्वारि, ज्ञानानि पच, सज्ञाश्चतस्र, शरीराणि पच, योगास्त्रय, उपयोगौ द्वौ, द्रव्याणि षट्, प्रदेशा अनन्ता, पर्यवा अनन्ता एव, 'अद्ध' त्ति अतीनाद्धा अनागताद्धा सर्वाद्धा चेति, 'कि पुव्वि लोयति' त्ति अय सूत्राभिलापनिर्देश. तथैव पश्चिम--सूत्राभिलाप दर्शयन्नाह— 'पुव्वि भते ! लोयते पच्छा सव्वद्धे' त्ति एतानि सूत्राणि शून्यज्ञा-नादिवादनिरासेन विचित्र--बाह्याध्यात्मिक--वस्तु—सत्ताभिधानर्थानि ईश्वरादि-कृतत्व-निरासेन चानादित्वाभिधानार्थानीति ॥

हिन्दी—भावार्थ

उस काल, उस समय श्रमण भगवान महावीर के शिष्य रोह नामक अनगार थे, जो कि प्रकृति-स्वभाव से भद्र, कोमल, विनीत और उपशान्त थे। क्रोध, मान, माया, लोभ को उन्होने कमजोर बना दिया था, वे मृदुता के भण्डार थे, गुप्तेन्द्रिय थे, सरलता और विनीतता के निधि थे, वे भगवान महावीर के सन्निकट कुछ मस्तक को झुकाए हुए खड़े होकर, तथा ध्यान रूप कोष्ठक को प्राप्त कर के सयम और तप के द्वारा आत्मा को भावित करते हुए विहरण कर रहे थे। एक बार उन्हे लोक, अलोक आदि के सम्बन्ध मे जिज्ञासा उत्पन्न हुई, तदनन्तर वे भगवान महावीर की सेवा में आए

और भगवान को वन्दना-नमस्कार करने के अनन्तर निवेदन करने लगे—

भगवन् ! लोक पहले है, अलोक पीछे है? या अलोक पहले है, लोक पीछे है ?

भगवान—रोह ! लोक और अलोक पहले भी है और पीछे भी अर्थात् ये दोनो पदार्थ शाश्वत है, नित्य है। इन मे कोई पहले हो और कोई पीछे, ऐसी बात नही है।

रोह—भगवन् ! जीव पहले है कि अजीव पहले है ?

भगवान— रोह ! इसे लोक और अलोक के समान समझ लेना चाहिए ।

इसी प्रकार, भव्य, अभव्य, सिद्धि (मुक्ति), असिद्धि (ससार), सिद्ध (मुक्त), असिद्ध (ससारी) के सम्बन्ध मे भी समझ लेना चाहिए।

रोह—भगवन् ! अण्डा पहले है या मुर्गी ? मुर्गी पहले है या अण्डा ?

भगवान—रोह ! अण्डा कहा से उत्पन्न होता है ?

रोह—भगवन् ! मुर्गी से।

भगवान—रोह ! मुर्गी कहा से उत्पन्न होती है ?

रोह—भगवन् ! अण्डे से।

भगवान—रोह ! जैसे अण्डा और मुर्गी इन दोनो में एक पहले है, एक पीछे है, ऐसा नही कहा जा सकता है, क्योकि ये दोनो ही शाश्वत है, नित्य है। वैसे ही लोक और अलोक आदि भी ऐसे ही है, शाश्वत है।

रोह—भगवन् ! लोकान्त पहले है, अलोकान्त पीछे है ? या अलोकान्त पहले है, लोकान्त पीछे है ?

भगवान—रोह ! लोकान्त और अलोकान्त, इन दोनों मे एक पहले है, दूसरा पीछे है, ऐसा नही कहा जा सकता। क्योकि ये दोनो शाश्वत है, नित्य है।

रोह—भगवन् ! लोकान्त पहले है, *सप्तम अवकाशान्तर पीछे है? या सप्तम अवकाशान्तर पहले है, और लोकान्त पीछे है ?

भगवान—रोह ! लोकान्त और सप्तम अवकाशान्तर इन मे कोई पहले नही है, और कोई पीछे नही है। दोनो ही शाश्वत है, नित्य है।

इसी प्रकार लोकान्त, सप्तम तनुवात, सप्तम घनवात, सप्तम घनोदधि, और सप्तम नरक के सम्बन्ध मे भी समझ लेना चाहिए।

इसी प्रकार लोकान्त के साथ आकाश, वात, (तनुवात, घनवात), घनोदधि, पृथ्विए (सात नरक), द्वीप, सागर, वर्ष (भरत आदि क्षेत्र), नैरयिक आदि २४ दण्डक, अस्तिकाय (धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय), समय (सब से सूक्ष्म काल), कर्म (ज्ञानावरणीय आदि अष्ठविध कर्म), छ लेश्याए (कृष्ण, नील आदि), तीन दृष्टियां (सम्यग्दृष्टि, मिथ्या-दृष्टि, मिश्र-

---

*अवकाशान्तर आकाश को कहते है। लोकान्त और सप्तम नरक के मध्य मे स्थित आकाश को सप्तम अवकाशान्तर कहा जाता है। प्रथम नरक का आकाश '—प्रथम आकाश—' और दूसरी नरक का आकाश—द्वितीय; इसी क्रम से आगे—तीसरी का तीसरा, चौथी का चतुर्थ, पाचवी का पचम, छठी का षष्ठ और सातवी नरक का आकाश सप्तम आकाश कहा जाता है।

दृष्टि), चार दर्शन (चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवल-दर्शन), पाच ज्ञान, (मति, श्रुत आदि), चार सज्ञाए (आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, ये चार सज्ञाए), पाच शरीर (औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, कार्मण), तीन योग (मन-योग, वचन-योग, काय-योग), दो उपयोग (दर्शनोपयोग, ज्ञानोपयोग), द्रव्यप्रदेश (द्रव्य के खण्ड), पर्याये (अवस्थाए), और अद्धा (काल) इन को जोड लेना चाहिए । अर्थात् ये सभी शाश्वत है, नित्य है, इन मे कोई पहले नही है, कोई पीछे नही है ।

रोह—भगवन् ! लोकान्त पहले है, सर्वाद्धा (भूत, वर्तमान, भविष्य, तीनो काल, सम्पूर्ण काल) पीछे है ?

भगवान—रोह ! दोनो शाश्वत है, नित्य है, इन मे कोई पहले हो, कोई पीछे, ऐसी बात नही है ।

जिस प्रकार लोकान्त के साथ अवकाशान्तर आदि को जोडकर प्रश्नोत्तर किए गए है, उसी प्रकार अलोकान्त के साथ अवकाशान्तर आदि को जोड लेना चाहिए, प्रश्नोत्तर बना लेने चाहिए ।

रोह—भगवन् ! सप्तम आकाश पीछे है, अथवा सप्तम तनुवात ?

भगवान—रोह ! दोनो शाश्वत है, नित्य है, कोई पहले पीछे नही है ?

इसी प्रकार सप्तम आकाश के साथ घनवात, घनोदधि आदि से लेकर सर्वाद्धा तक, इन सभी को जोड़ लेना चाहिए ।

रोह—भगवन् ! सप्तम तनुवात पीछे है, सप्तम घनवात पीछे नही है ।

भगवान—रोह ! दोनो शाश्वत है, नित्य है, इन मे कोई पहले—पीछे नही है।

इसी प्रकार सप्तम तनुवात के साथ घनोदधि, पृथ्वी आदि से लेकर सर्वाद्धा तक, इन सब का सयोजन कर लेना चाहिए।

वर्णनक्रम मे सब से पहले लोकान्त को रखा है, फिर अलोकान्त, पुन सप्तम आकाश को, इसी प्रकार उस के अनन्तर तनुवात, घनवात, घनोदधि आदि है, और अन्त मे सर्वाद्धा है। सर्वत्र प्रश्नोत्तरो मे ऊपर के बोल के साथ क्रमश. नीचे के बोलो को जोडा गया है। जैसे लोकान्त को अवकाशान्तर आदि से लेकर सर्वाद्धा तक, इन सभी के साथ जोडा गया है, तथा अवकाशान्तर को तनुवात आद से लेकर सर्वाद्धा तक,के साथ जोडा गया। इसी प्रकार ऊपर के बोल के साथ नीचे के सब बोलो को क्रमश जोड देना चाहिए, इसी क्रम से ऊपर के बोलो को छोडकर नीचे के बोलो के साथ शेष सभी बोलो का सयोजन करते चले जाना चाहिए। अन्त मे प्रश्नावली अद्धा तक चली जाती है।

मूल पाठ

* जे वि य ते खदया ! जाव कि अणते सिद्धे ? त चेव जाव। दव्वओ ण एगे सिद्धे सअन्ते,खेत्तओ ण सिद्धे

---

* येऽपि च ते स्कन्दक ! यावत् किमनन्तः सिद्ध.? तच्चैव यावद् द्रव्यत·—एक सिद्ध. सान्त·, क्षेत्रतः—सिद्धो असख्येयप्रदेशिकः असख्येयप्रदेशावगाढ·, अस्ति पुनः तस्यान्त। कालत.—सिद्ध सादिरपर्यवसित., नास्ति पुन. तस्यान्तः। भावत.—सिद्धा. अनन्ता.

असखेज्जपएसिए असखेज्जपदेसोगाढे, अत्थि पुण से अन्ते, कालओ ण सिद्धे सादीए अपज्जवसिए, नत्थि पुण से अन्ते. भावओ ण सिद्धे अणन्ता णाणपज्जवा, अणन्ता दसणपज्जवा जाव अणन्ता अगुरुलहुयपज्जवा नत्थि पुण से अन्ते, सेत्त दव्वओ सिद्धे सअन्ते, खेत्तओ सिद्धे सअन्ते, कालओ सिद्धे अणन्ते, भावओ सिद्धे अणन्ते ।

—भगवतीसूत्र शतक २, उद्देशक १

हिन्दी—भावार्थ

हे स्कन्दक ! सिद्ध अनन्त है, परन्तु द्रव्य से एक सिद्ध सान्त है, क्षेत्र से एक सिद्ध असख्यात—प्रदेशिक है, और असख्यातप्रदेशावगाढ है काल से एक सिद्ध सादि है, अनन्त है, उसका अन्त नही होता है, भाव से एक सिद्ध की अनन्त ज्ञानपर्याय, अनन्त दर्शन—पर्याय यावत् अनन्त अगुरुलघुपर्याय है, इन का कभी अन्त नही होता है ।

साराश यह है कि द्रव्य और क्षेत्र से एक सिद्ध सान्त है, किन्तु काल और भाव से एक सिद्ध अनन्त है ।

मूल पाठ

†एगत्तेण साइया, अपज्जवसिया वि य ।

ज्ञानपर्यवा', अनन्ता: दर्शनपर्यवा: यावद् अनन्ता अगुरुलघुपर्यवा, नास्ति पुन. तस्यान्त । समाप्त द्रव्यत.—सिद्ध सान्तः, क्षेत्रत.—सिद्ध. सान्त., कालत.—सिद्धोऽनन्तः, भावत —सिद्धोऽनन्तः ।

† एकत्वेन सादिका, अपर्यवसिता अपि च ।
पृथक्त्वेन अनादिका, अपर्यवसिता अपि च ॥

पुहत्तेण अणाइया, अपज्जवसिया वि य ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र, अ० ३६/६६

संस्कृत—व्याख्या

एकत्वेनासहायत्वेन ते सादिका अपर्यवसिता अपि च यत्र हि काले ते सिध्यन्ति स तेषादि नतु कदाचित् मुक्ते. भ्रश्यन्ति, अतो न पर्यवसानमिति । पृथक्त्वेन-बहुत्वेन सामस्त्यापेक्ष्येति । यावत् अनादिका अपर्यवसिता अपि च नहि कदाचिद् ते नाभूवन् न भविष्यन्ति चेति ।

हिन्दी—भावार्थ

एक सिद्ध की अपेक्षा सिद्ध सादि अनन्त है, और बहुत्व की अपेक्षा सिद्ध अनादि अनन्त है ।

* परमात्मा एक है *

मूल पाठ

* एगे सिद्धे ।

—स्थानागसूत्र स्थान १, सू० ४६

संस्कृत—व्याख्या

'एगे सिद्धे' सिध्यति स्म कृतकृत्यो भवेत्, सेधतिस्म वा समगच्छदपुनरावृत्त्या लोकाग्रमिति सिद्धः । सित वा बद्ध वा कर्म ध्मात—दग्ध यस्य स निरुक्तात्—सिद्ध., कर्मप्रपचनिर्मुक्त., स चैको द्रव्यार्थतया पर्यायार्थतस्त्वनन्तपर्याय इति, अथवा सिद्धानामनन्तत्वेपि तत्साम्यदेकत्व अथवा कर्मशिल्प-विद्यामत्र-योगागमार्थयात्राबुद्धितप.—कर्मक्षयभेदेनानेकत्वेप्यस्यैकत्व सिद्धशब्दाभिधेयत्वसाम्यादिति ।

---

* एक. सिद्धः ।

हिन्दी-भावार्थ

सख्या की अपेक्षा से सिद्ध अनन्त होने पर भी सिद्ध-जीवो की ज्ञान, दर्शन आदि गुणसम्पदा समान होने के कारण "सिद्ध एक है" ऐसा कहा जाता है।

मूल पाठ

णत्थि सिद्धो असिद्धी वा, णेव सन्न निवेसए
अत्थि सिद्धी असिद्धी वा, एव सन्न निवेसए ॥१॥
णत्थि सिद्धी निय ठाण, णेव सन्न निवेसए।
अत्थि सिद्धी निय ठाण, एव सन्न निवेसए ॥२॥

—सूत्रकृताग सूत्र श्रु० २, अ० ५, गा० २५-२६

सस्कृत—व्याख्या

सिद्धि अशेषकर्मच्युतिलक्षणा तद्विपर्यस्ता चासिद्धिर्नास्तीत्येव नो सज्ञा निवेशयेद्, अपित्वसिद्धेः—ससार--लक्षणायाश्चातुर्विध्येनानन्तरमेव प्रसाधितताया अविगानेनास्तित्व प्रसिद्ध, तद्विपर्ययेण सिद्धेरप्यस्तित्वम-निवारितमित्यतोऽस्ति सिद्धिरसिद्धिर्वेत्येव सज्ञा निवेशयेदिति स्थितम्, इदमुक्त भवति--सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकस्य मोक्ष-मार्गस्य सद्भावा-त्कमक्षयस्य च पीडोपशमादिनाऽध्यक्षेण दर्शनादत. कस्यचिदात्यन्तिक-कर्म-हानि-सिद्धेरस्ति सिद्धिरिति, तथा चोक्तम् "--दोषाकरणयोर्हानि-

---

* नास्ति सिद्धिरसिद्धिर्वा, नैव सज्ञा निवेशयेत् ।
अस्ति सिद्धिरसिद्धिर्वा, एव सज्ञा निवेशयेत् ॥
नास्ति सिद्धि· निज स्थान, नैव सज्ञा निवेशयेत् ।
अस्ति सिद्धि· निज स्थान, एव सज्ञा निवेशयेत् ॥

र्निशेषाऽस्त्यतिशायनी । क्वचिद् यथा स्वहेतुभ्यो, बहिरन्तर्मलक्षयः ॥१॥" इत्यादि, एवं सर्वज्ञसद्भावोऽपि संभवानुमानाद् द्रष्टव्यः, तथाहि--प्रभ्यस्यमानाया प्रज्ञाया व्याकरणादि (ना) शास्त्र-संस्कारेणोत्तरोत्तर—वृद्धया प्रज्ञातिशयो दृष्टः, तत्र कस्यचिदत्यन्तातिशयप्राप्तेः सर्वज्ञत्वं स्यादिति संभवानुमानम्, न चैतदाशङ्कनीयं, तद्यथा--ताप्यमानमुदकमत्यन्तोष्णतामियान्नाग्निसाद्भवेत् तथा—

दशहस्तान्तरं व्योम्नि, यो नामोत्प्लुत्य गच्छति ।
न योजनमसौ गन्तुं, शक्तोऽभ्यास-शतैरपि ॥१।

इति, दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरसाम्यात्, तथाहि---ताप्यमानं जलं प्रतिक्षणं क्षयं गच्छेत्, प्रज्ञा तु विवर्द्धते यदि वा प्लोषोपलब्धेरव्याहतमग्नित्वं, तथा प्लवनविषयेऽपि पूर्वमर्यादाया अनतिक्रमाद्योजनोत्प्लवनाभावः, तत्परित्यागे चोत्तरोत्तरं वृद्धया प्रज्ञाप्रकर्षगमनवद्योजनशतमपि गच्छेदित्यतो दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरसाम्यादेतन्नाशङ्कनीयमिति स्थितम्, प्रज्ञावृद्धेश्च बाधकप्रमाणाभावादस्ति सर्वज्ञत्व-प्राप्तिरिति । यदि वा अञ्जनभृतसमुद्गदृष्टान्तेन जीवाकुलत्वाज्जगतो हिंसाया दुर्निवारत्वात्सिद्धयभावः, तथाचोक्तम्—

जले जीवाः स्थले जीवा, आकाशे जीवमालिनि ।
जीवमालाकुले लोके, कथं भिक्षुरहिंसकः ? ॥१॥

इत्यादि, तदेवं सर्वस्यैव हिंसकत्वात्सिद्धयभाव इति, तदेतदयुक्तं, तथाहि—सदोपयुक्तस्य पिहिताश्रवद्वारस्य पञ्चसमिति-समितस्य त्रि-गुप्तिगुप्तस्य सर्वथा निरवद्यानुष्ठायिनो द्विचत्वारिंशद्दोषरहितभिक्षाभुज ईर्यासमितस्य कदाचिद् द्रव्यतः प्राणिव्यपरोपणेऽपि तत्कृतबन्धाभावः सर्वथा तस्यानवद्यत्वात्, तथा चोक्तम्—"उच्चालियंसि पाए," इत्यादि प्रनीतं, तदेवं कर्मबन्धाभावात्सिद्धेः सद्भावोऽव्याहतः, सामग्रयभावादसिद्धिसद्भावोऽपीति ॥२५॥ साम्प्रतं

सिद्धाना स्थाननिरूपणायाह—'णत्थि सिद्धि, त्यादि, सिद्ध---अशेषकर्मच्युति-लक्षणाया निज स्थानम--ईषत्प्राग्भाराख्य व्यवहारतो निश्चयतस्तु तदुपरियोजन-कोशषड्भाग तत्प्रतिपादकप्रमाणाभावात् स नास्तीत्येव सञ्ज्ञा नो निवेशयेत्, यतो बाधकप्रमाणाभावात्, साधकस्य चागमस्य सद्भावात्तत्सत्ता दुर्निवारेति। अपिच—अपगतशेषकल्मषाणा सिद्धाना केनचिद् विशिष्टेन स्थानेन भाव्य तच्चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्य लोकस्याग्रभूत द्रष्टव्य, न च शक्येत वक्तुम।काशवत् सर्वव्यापिन सिद्धा इति, यतो लोकालोकव्याप्याकाश, न चालोकेऽपरद्रव्यस्य सभव तस्याकाशमात्ररूपत्वात्, लोकमात्र-व्यापित्वमपि नास्ति, विकल्पानुपपत्ते, ' तथाहि--सिद्धावस्थाया तेषा व्यापित्वमभ्युपगतमुत-प्रागपि ? न तावत् सिद्धावस्थाया, तद् व्यापित्वभवने निमित्ताभावात्, नापि प्रागवस्थाया, तद्-भावे सर्वससारिणा प्रतिनियतसुख-दु खानुभवो न स्यात्, न च शरीराद्बहिरवस्थितमवस्थानमस्ति, तत्सत्ता।निबन्धनस्य प्रमाणस्याभावात्--अत. सर्वव्यापित्व विचार्यमाण न कथचिद् घटते, तदभावे च लोकाग्रमेव सिद्धाना स्थान, तद्गतिश्च 'कर्मविमुक्तस्योर्ध्व गति' रिति कृत्वा भवति, तथा चोक्तम्--

लाउ एरडफले अग्गी धूमे य उसु धणु विमुक्के।
गई पुव्वपओगेण एव सिद्धाण वि गईओ ॥१॥

तदेवमस्ति सिद्धिस्तस्याश्च निज स्थानमित्येव सञ्ज्ञा निवेशयेदिति ॥२६॥

हिन्दी—भावार्थ

सिद्धि (मुक्ति) नही है, और असिद्धि (ससार) नही है, ऐसी धारणा नही रखनी चाहिए, प्रत्युत सिद्धि और असिद्धि दोनों है, इस प्रकार की भावना रखनी चाहिए।

जीव का निज-स्थान मुक्ति नही है, ऐसी धारणा भी नही रखनी चाहिए, किन्तु यही समझना चाहिए कि जीव का

निज स्थान मुक्ति ही है।

मूल पाठ

* एगे भव?, दुवे भव?, अक्खए भव?, अव्वए भव?, अवट्ठिए भव?, अणेगभूय-भाव-भविए भव? सोमिला! एगे वि अह जाव अणेगभूयभावभविए वि अह। से केणट्ठेण भन्ते! एव वुच्चइ जाव भविए वि अहं? सोमिला! दव्वट्ठयाए एगे अह, नाणदसणट्ठयाए दुविहे अह, पएसट्ठयाए अक्खए वि अह, अव्वए वि अह, अवट्ठिए वि अह, उवओगट्ठयाए अणेगभूयभाव-भविए वि अह, से तेणट्ठेण जाव भविए वि अह।

—भगवतीसूत्र शतक १८, उद्देशक १०

सस्कृत—व्याख्या

'एगे भव' मित्यादि, एको भवानित्येकत्वाभ्युपगमे भगवतात्मन. कृते श्रोत्रादिविज्ञानानामवयवाना चात्मनोऽनेकतोपलब्धित एकत्व

---

* एको भवान्?, द्वौ भवान्?, अक्षयो भवान्?, अव्ययो भवान्?, अवस्थितो भवान्?, अनेक-भूत-भाव-भविको भवान्? सोमिल! एकोऽप्यह यावद् अनेक--भूत--भाव--भविकोऽप्यहम्। तत्केनार्थेन भदन्त! ऐव उच्यते, यावद् भविकोऽप्यहम्? सोमिल! द्रव्यार्थतया एकोऽहम्, ज्ञानदर्शनार्थतया द्विविधोऽहम्, प्रदेशार्थतया अक्षयोऽप्यऽहम्, अव्ययोऽप्यहम्, अवस्थितोऽप्यहम्, उपयोगार्थतया अनेकभूतभावभविकोऽप्यहम्, तत्तेनार्थेन यावद् भविकोऽप्यहम्॥

दूषयिष्यामीति बुद्धया पर्यनुयोग मोमिलभट्टेन कृत, द्वौ भवानिति च द्वित्वाभ्युपगमेऽहमित्येकत्वविशिष्टस्यार्थस्य द्वित्वविरोधेन द्वित्व दूषयिष्यामीति बुद्धया पर्यनुयोगो विहित, 'अक्खए भव' मित्यादिना व पदत्रयेण नित्यात्मपक्षः पर्यनुयुक्तः, 'अणेग-भूय-भावभविए भव' ति अनेके भूता.—अतीता भावा-सत्तापरिणामा भव्याश्च-भाविनो यस्य स तथा, अनेन चातीत-भविष्यत्सत्ताप्रश्नेनानित्यतापक्ष पर्यनुयुक्त, एकतरपरिग्रहे तस्यैव दूषणायेति, तत्र च भगवता स्याद्वादस्य निखिल-दोषगोचराति-क्रान्तत्वात्तमवलम्ब्योत्तरमदायि—'एगे वि अह' मित्यादि, कथमित्येतत् ? इत्यत आह—दव्वट्ठयाए एगोऽह, ति जीवद्रव्यस्यैकत्वे-नैकोऽह न तु प्रदशार्थतया, तथाहि अनेकत्वान्ममेत्यवयवादीनामनेकत्वो-पलम्भो न बाधक, तथा कञ्चित्स्वभावमाश्रित्यैकत्वसख्याविशिष्टस्यापि पदार्थस्य स्वभावान्तरद्वयापेक्षया दित्वमपि न विरुद्धमित्यत उक्त—'नाणदसणट्ठयाए दुवे वि अह' ति, न चैकस्य स्वभावभेदो न दृश्यते, एको हि देवदत्तादि पुरुष एकदैव तत्तदपेक्षया पितृत्व-पुत्रत्व-भ्रातृत्वा-दीननेकान् स्वभावान् लभत इति, तथा प्रदेशार्थतयाऽसखेयप्रदेशतामाश्रि-त्याक्षतोप्यहं सर्वथा प्रदेशाना क्षयाभावात्, तथाऽव्ययोऽप्यह कतिपयानामपि च व्ययाभावात्, किमुक्त भगति ?—अवस्थितोऽप्यह—नित्योऽप्यहम्, असख्येयप्रदेशिता हि न कदाचनापि व्यपैति, अतो नित्यताऽभ्युपगमेऽपि न दोष', तथा 'उवओगट्ठयाए' त्ति विविधविषयानुपयोगानाश्रित्यानेकभूतभाव-भविकोऽप्यहम्, अतीताना-गतयोर्हि कालयोरनेक-विषय-बोधानामात्मनः कथञ्चिदभिन्नाना भूतत्वात् भावित्वाच्चेत्यनित्यपक्षोऽपि न दोषायेति ।

हिन्दी—भावार्थ

भगवतीसूत्र मे सोमिल ब्राह्मण और भगवान महावीर के सवाद का वर्णन आता है । आगे का वर्णन उसी सवाद का

एक भाग है–

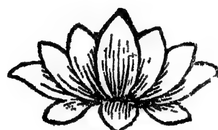
सोमिल—भदन्त ! आप एक है? दो है? अक्षय है? अव्यय है ? अवस्थित (नित्य) है ? भूतकालोन और भविष्यत्कालीन अनेक पर्यायो वाले है ?

भगवान—सोमिल ! मै एक भी हू, यावत् अनेक पर्यायो वाला भी हू ।

सोमिल— भदन्त ! किस आपेक्षा से आप ऐसा फरमाते है ?

भगवान—सोमिल ! द्रव्य की अपेक्षा से मै एक हू, ज्ञान, दर्शन की अपेक्षा से मै दो प्रकार का हू, आत्मप्रदेशो की अपेक्षा से अक्षय (क्षयरहित) हू, अव्यय (व्यय-आशिक नाश से रहित) हू, एव अवस्थित-नित्य भी हू । उपयोग की अपेक्षा से मै अनेक भूत और भावी पर्यायो वाला हू ।

इसलिए हे सोमिल ! मै एक भी हू, यावत् अनेक पर्यायो वाला भी हू ।



परिशिष्ट नं० १

मूल पाठ

* से किं त सव्वजीवाभिगमे ?

सव्वजीवेसु ण इमाओ णव पडिवत्तीओ एवमाहिज्जंति। एगे एवमाहसु—दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता, जाव दसविहा सव्वजीवा पण्णता। तत्थ जे से एवमाहसु दुविहा सव्व-जीवा पण्णत्ता, ते एवमाहसु तंजहा—सिद्धा य असिद्धा य इति।

---

*अथ कोऽसौ सर्वजीवाभिगमः ?

सर्वजीवेषु इमा नवप्रतिपत्तय एवमाख्यायन्ते,—एके एवमाहु—द्विविधा सर्वजीवाः प्रज्ञप्ता यावद् दशविधा सर्वजीवा प्रज्ञप्ता। यत्र ये ते एवमाहु—द्विविधा सर्वजीवा प्रज्ञप्ता, ते एवमाहु, तद्यथा- सिद्धाश्च, असिद्धाश्च इति।

सिद्धो भदन्त! 'सिद्ध' इति कालत कियच्चिर भवति ?

गौतम! सादिरपर्यवसित। असिद्धो भदन्त! 'असिद्ध' इति० ? गौतम! असिद्धो द्विविधः प्रज्ञप्त. तद्यथा—अनादिको वा, अपर्यवसित, अनादिको वा सपर्यवसित.। सिद्धस्य भदन्त! कियत्कालमन्तर भवति ? गौतम! सादिकस्य अपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरम्। असिद्धस्य भदन्त! कियदन्तर भवति ? गौतम! अनादिकस्य अपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरम्। अनादिकस्य सपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरम्। एतेषा भदन्त! सिद्धानामसिद्धानाञ्च कतरे ? ? गौतम! सर्वस्तोका सिद्धा. असिद्धा अनन्तगुणाः।

सिद्धे ण भते ! सिद्धे त्ति कालतो केवच्चिर होति ?,

गोयमा ! सातीअपज्जवसिए।

असिद्धेण भते ! असिद्धेत्ति० ?

गोयमा ! असिद्धे दुविहे पण्णत्ते, तजहा—अणाइए वा अपज्जवसिए, अणातीए वा सपज्जवसिए ।

सिद्धस्स ण भते ! केवतिकाल अतर होति ?,

गोयमा ! सातियस्स अपज्जवसियस्स णत्थि अतर।

असिद्धस्स ण भते ! केवइय अतर होइ ?

गोयमा ! अणातियस्स अपज्जवसियस्स णत्थि अतर, अणातियस्स सपज्जवसियस्स णत्थि अतर।

एएसिण भते ! सिद्धाण असिद्धाण य कयरे २. ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा सिद्धा असिद्धा अणतगुणा।

—जीवाभिगम सूत्र २४४

सस्कृत—व्याख्या

'से कि त' मित्यादि, अथकोऽसौ सर्वजीवाभिगम ? सर्वजीवा: ससारिमुक्त-भेदा, गुरुराह—'सव्वजीवेसु ण' मित्यादि, सर्वजीवेसु सामान्येत 'एता' अनन्तर वक्ष्यमाणा नव प्रतिपत्तय 'एवम्' अनन्त-रमुपदर्श्यमानेन प्रकारेणाख्यायन्ते, ता एवाह—एके एवमुक्तवन्तो—द्विविधा सर्वजीवा प्रज्ञप्ता.। एक एवमुक्तवन्तस्त्रिविधा सर्व-जीवा प्रज्ञप्ता., एव यावदेके एवमुक्तवन्तो दशविधा सर्वजीवा· प्रज्ञप्ता ।

तत्थे, त्यादि तत्र ये ते एवमुक्तवन्तो द्विविधा सर्वजीवा· प्रज्ञप्तास्ते एवमुक्तवन्तस्तद्यथा—सिद्धाश्चासिद्धाश्च, सित बद्धमष्टप्रकार कर्म्म

ध्मात—भस्मीकृत यैस्ते सिद्धा', पषोदरादित्वादिष्टरूपनिष्पत्ति, निर्दग्धकर्मेन्धना मुक्ता इत्यर्थ । 'असिद्धा' ससारिण, च 'शब्दौ स्वगतानेकभेदसदर्शनार्थौ । सम्प्रति सिद्धस्य कायस्थितिमाह—सिद्धे ण, मित्यादि, सिद्धो भदन्त ! सिद्ध इति—सिद्धत्वेन कालत कियच्चिर भवति ?, भगवानाह—गौतम ! सिद्ध' सादिकोऽपर्यवसित, तत्र सादिता ससारविप्रमुक्तिसमये सिद्धत्वभावात्, अपर्यवसितता सिद्धत्व-च्युतेरसम्भवात् । असिद्धविषय प्रश्नसूत्र सुगम ।

भगवानाह—गौतम ! असिद्धो द्विविध प्रज्ञप्तस्तद्यथा—अनादि-कोऽपर्यवसित, अनादिक सपर्यवसित । तत्र यो न जातुचिदपि सत्स्यति अभव्यत्वात्तथाविधसामग्र्यभावाद्वा सोऽनाद्यपर्यवसित, यस्तु सिद्धि गत सोऽनादिसपर्यवसित । साम्प्रतमन्तर विचिन्तयिषुराह -'सिद्धस्स ण भते !, इत्यादि प्रश्न-सूत्र सुगम, भगवानाह—गौतम ! सिद्धस्य सादिकस्यापर्यवसितस्य नास्त्यन्तरम्, अत्र निमित्तकारणहेतुषु सर्वासा विभक्तीना प्रायोदर्शन, मिति न्यायात हेतौ षष्ठी, ततोऽयमर्थ — यस्मात्सिद्ध' सादिरपर्यवसितस्तस्मान्नास्त्यन्तरम्, अन्यथाऽपर्यवसितत्वा-योगात् असिद्ध-सूत्रे असिद्धस्यानादिकस्यापर्यव-सितस्य नास्त्यन्तरम्, अपर्यवसितत्वादेवासिद्धत्वाप्रच्युते, अनादिकसपर्यवसितस्यापि ना-स्त्यन्तर, भूयोऽसिद्धत्वायोगात् साम्प्रतमेतेषामेवाल्पबहुत्वमाह—'एए-ऽसि ण' मित्यादि प्रश्न-सूत्र सुगम, भगवानाह—गौतम ! सर्वस्तोका सिद्धा, असिद्धा अनन्तगुणा, निगोदजीवानामतिप्रभूतत्वात् ।

हिन्दी—भावार्थ

जीवाभिगम (जिस मे केवल ससारी जीवो का वर्णन है) के अनन्तर सर्वजीवाभिगम (जिस मे ससारी और मुक्त, दोनो प्रकार के जीवो का वर्णन है) का स्थान है । अनगार गौतम ने भगवान महावीर से पूछा—भदन्त ! सर्वजीवाभिगम मे क्या

वर्णन है ?

भगवान बोले-गौतम! सर्वजीवों का वर्णन करने वाली नव प्रतिपत्तिया (अध्ययन) कही गई है। जैसेकि—

कई एक ऐसा कहते है कि सब जाव दो प्रकार के होते है, यावत् दस प्रकार के होते है। जो यह कहते है कि जीव दो प्रकार के होते है, उन की मान्यता इस प्रकार है—

१—सिद्ध, और २—असिद्ध

अनगार गौतम बोले—भदन्त! सिद्ध भगवान की 'सिद्धत्व' रूप से कितनी स्थिति होती हे ?

भगवान महावीर ने कहा—गौतम! सिद्ध भगवान की स्थिति एक सिद्ध की अपेक्षा से सादि अनत होती है।

अनगार गौतम बोले—भदन्त! असिद्ध जीवो (ससारी जीवो) की असिद्धत्व रूप से कितनी स्थिति होतो है ?

भगवान महावीर ने कहा—गोतम! असिद्धजीव दो प्रकार के कहे गये है, जैसेकि—

१ अनादि-अनन्त, २. अनादि-सान्त

अनगार गौतम बोले—भदन्त! काल की अपेक्षा से सिद्ध भगवान का कितना अन्तर होता है ? अर्थात् सिद्ध सिद्धत्व को छोडकर पुन कब सिद्ध बनते है ?

भगवान महावीर ने कहा—गौतम! सादि-अनन्त सिद्ध भगवान का कोई अन्तर नही होता है। अर्थात् सिद्ध भगवान सिद्धत्व से कभी रहित नही होते है।

अनगार गौतम बोले—भदन्त! काल की अपेक्षा से असिद्ध जीव का कितना अन्तर होता है ? अर्थात् असिद्ध जीव

असिद्धत्व को छोड कर पुन कब असिद्ध बनते है ?

भगवान महावीर ने कहा—गौतम ! अनादि-अनन्त असिद्ध जीव का अन्तर नही होता है। अर्थात् असिद्ध जीव असिद्धत्व को छोड कर (सिद्धत्व को प्राप्त कर के) पुन असिद्धत्व को कभी प्राप्त नही होते है। क्योकि अनादि अनन्त होने के कारण वे असिद्धजीव असिद्धत्व का कभी परित्याग ही नही कर पाते है।

इसी प्रकार अनादि सान्त असिद्ध जीवो का भी अन्तर नही होता है। क्योकि अनादि सान्त असिद्ध जीव असिद्धत्व का परित्याग करके अर्थात् सिद्धत्व को प्राप्त करके, पुन असिद्धत्व को प्राप्त नही होते है, सिद्धदशा को छोड कर असिद्धदशा मे नही आते है।

अनगार गौतम बोले—भदन्त ! इन सिद्ध और असिद्ध जीवो मे कौन अल्प और कौन अधिक है ?

भगवान महावीर कहने लगे—गौतम ! सब से कम सिद्ध जीव है, और सिद्ध जीवो से असिद्ध जीव अनन्त गुणा अधिक होते है।

मूल पाठ

*अहवा दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तजहा—सइदिया चेव अणिदिया चेव।

---

* अथवा द्विविधा. सर्वजीवा प्रज्ञप्ता। तद्यथा —सेन्द्रियाश्चैव अनिन्द्रियाश्चैव।

सेन्द्रियो भदन्त ! कालत. कियच्चिर भवति ? गौतम ! सेन्द्रियो द्विविधः प्रज्ञप्त --अनादिको वा अपर्यवसितः, अनादिको वा सपर्यवसितः।

सइंदिए ण भंते ! कालतो केवचिर होइ ?

गोयमा ! सइंदिए दुविहे पण्णत्ते–अणातीए वा अपज्जवसिए, अणाइए वा सपज्जवसिए । अणिंदिए सातीए वा अपज्जवसिए दोण्ह वि अतर नत्थि । सव्वत्थोवा अणिदिया, सइंदिया अणतगुणा ।

अहवा दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता तजहा–सकाइया चेव अकाइया चेव एव चेव,एव सजोगी चेव अजोगी चेव

अनिन्द्रिय सादिको वा अपर्यवसित । द्वयोरपि अन्तर नास्ति । सर्वस्तोका अनिन्द्रिया:, सेन्द्रिया अनन्तगुणा ।

अथवा द्विविधा सर्वजीवा' प्रज्ञप्ता, तद्यथा—सकायिकाश्चैव, अकायिकाश्चैव । एव चैव, एव सयोगिनश्चैव, अयोगिनश्चैव तथैव । एव सलेश्याश्चैव अलेश्याश्चैव, सशरीराश्चैव अशरीराश्चैव । सस्थानम्, अन्तरम्, अल्पबहुत्वम्, यथा सेन्द्रियाणाम् ।

अथवा द्विविधा. सर्वजीवा प्रज्ञप्ता: । तद्यथा—सवेदकाश्चैव, अवेदकाश्चैव ।

सवेदको भदन्त ! -सवे० । गौतम ! सवेदक त्रिविध' प्रज्ञप्त: । तद्यथा—अनादिक अपर्यवसित., अनादिक सपर्यवसित', सादिक सपर्यवसित. । तत्र य स सादिक सपर्यवसितत सो जघन्येन अन्तर्मुहूर्तम्, उत्कर्षेण अनन्त काल यावत्, क्षेत्रत अपार्ध पुद्गलपारवर्तं देशोनम् ।

अवेदको भदन्त ! अवेदक इति कालत' कियच्चिर भवति ? गौतम ! अवेदको द्विविध: प्रज्ञप्त । तद्यथा—सादिको वा अपर्यवसित:, सादिको वा सपपर्यवसित: । तत्र य स सादिक सपर्यवसित. स जघन्येन एक समयम्, उत्कर्षेण अन्तर्मुहूर्तम् ।

तहेव। एव सलेस्सा चेव, अलेस्सा चेव, ससरोरा चेव, असरीरा चेव, सचिट्ठण अतर अप्पाबहुय जहा सइन्दियाण ।

अहवा दुविहा सव्वजोवा पण्णत्ता, तजहा—सवेदगा चेव अवेदगा चेव।

सवेदए ण भते! सवे० ? गोयमा! सवेयए तिविहे पण्णत्ते, तजहा—अणादोए अपज्जवसिते, अणादोए सपज्जवसिए, साइए सपज्जवसिए। तत्थ ण जे से साइए सपज्जवसिए से जह० अतोमु० उक्को० अणत काल जाव खेत्तओ अवड्ढ पोग्गलपरियट्ट देसूण।

अवेदए ण भते! अवेयए ति कालओ केवचिर होइ? गोयमा! अवेद दुविहे पण्णत्ते तजहा—सातीए

सवेदकस्य भदन्त! कियत्कालमन्तर भवति ? अनादिकस्य अपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरम्। अनादिकस्य सपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरम्। सादिकस्य सपर्यवसितस्य जघन्येन एक समयम्, उत्कर्षेण अन्तर्मुहूर्तम्।

अवेदकस्य भदन्त! कियन्त कालमन्तर भवति ? सादिकस्य अपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरम्। सादिकस्य सपर्यवसितस्य जघन्येन अन्तर्मुहूर्तम्, उत्कर्षेण अनन्त काल यावद् अपार्धं पुद्गलपरिवर्तं देशोनम्। अल्पबहुत्वम्—सर्वस्तोका अवेदका:, सवेदका अनन्तगुणा.। एवं सकषायिणश्चैव, अकषायिणश्चैव। यथा सवेदकस्तथैव भणितव्य'।

अथवा द्विविधा' सर्वजीवा। सलेश्याश्च, अलेश्याश्च। यथा असिद्धा:, सिद्धा:। सर्वस्तोका अलेश्या., सलेश्या अनन्तगुणा.।

वा अपज्जवसिते, साइए वा सपज्जवसिए, तत्थ ण जे से सादिए सपज्जवसिने से जहण्णेण एक्क समय उक्को० अतोमुहुत्त ।

सवेयगस्स ण भते ! केवति-काल अतर होइ ?

अणादियस्स अपज्जवसियस्स णत्थि अतर, अणादियस्स सपज्जवसियस्स नत्थि अतर, सादायस्स सपज्जवसियस्स जहण्णेण एक्क समय, उक्कोसेण अतोमुहुत्त ।

अवेदगस्स ण भते ! केवतिय काल अतर होइ ?,

सातीयस्स अपज्जवसियस्स णत्थि अतर, सातीयस्स सपज्जवसियस्स जह० अतोमु० उक्कोसेण अणत काल जाव अवड्ढ पोग्गलपरियट्ट देसूण । अप्पाबहुग—सव्वत्थोवा अवेयगा, सवेयगा अणतगुणा । एव सकसाई चेव अकसाई चेव २ जहा सवेयगे तहेव भाणियव्वे ।

अहवा दुविहा सव्वजीवा—सलेसा य अलेसा य जहा असिद्धा सिद्धा, सव्वत्थोवा—अलेसा, सलेसा अणतगुणा ।

सस्कृत—व्याख्या

अथवा द्विविधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा—सेन्द्रियाश्च-अनिन्द्रियाश्च, तत्र सेन्द्रियाः—ससारिण , अनिन्द्रिया --सिद्धा. । उपाधिभेदात्पृथगुपन्यास । एव सकायिकादिष्वपि भावनीय, तत्र सेन्द्रियस्य कायस्थितिरन्तर चासिद्धवद्वक्तव्य, अनिन्द्रियस्य सिद्धवत्, तच्चैवम्—'सइदिए

ण भते !' सइदिय त्ति कालतो केवचिर होइ? गोयमा! सइदिए दुविहे पण्णत्त, तजहा—अणाइए वा अपज्जवसिए अणाइए वा सपज्जवसिए। अणिदिए ण भते! अणिदिए त्ति कालतो केवचिर होइ? गोयमा! साइए अपज्जवसिए। सइदियस्स ण भते! कालओ केवचिर अतर होइ? गोयमा! अणाइयस्स अपज्जवसियस्स नत्थि अतर, अणाइयस्स सपज्जवसियस्स नत्थि अतर। अणिदियस्स ण भते! अतर कालतो केवचिर होइ? गोयमा! साइयस्स अपज्जवसियस्स नत्थि अतर' इति, अल्पबहुत्वसूत्र पूर्ववद्भावनीयम्। एव कायस्थित्यन्तराल्पबहुत्वसूत्राणि सकायिकाकायिकविषयाणि सयोग्ययोगिविषयाण्यपि भावयितव्यानि, तच्चैवम्—'अहवा दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तजहा, सकाइया चेव अकाइया चेव, एव सजोगी चेव अजोगी चेव, तहेव एव सलेस्सा चेव अलेस्सा चेव ससरीरा चेव, असरीरा चेव सचिट्ठण अतर अप्पाबहुय जहा सकाइयाण। अथ प्रकारान्तरेण द्वैविध्यमाह—'अहवे' त्यादि, अथवा द्विविधा सर्वजीवा प्रज्ञप्तास्तद्यथा—सवेदकाश्च अवेदकाश्च। तत्र सवेदकस्य कायस्थितिमाह 'सवेदए ण भते! इत्यादि प्रश्नसूत्र सुगम, भगवानाह—गौतम! सवेदकस्त्रिविध प्रज्ञप्तस्तद्यथा—अनाद्यपर्यवसित, अनादिसपर्यवसित, सादिसपर्यवसितश्च, तत्रानाद्यपर्यवसितोऽभव्यो भव्यो वा तथाविधसामग्र्यभावान्मुक्तिगमनाभावात्, उक्तञ्च—'भव्वावि न सिज्झति केइ' इत्यादि अनादिसपर्यवसितो भव्यो मुक्तिगामी पूर्वमप्रतिपन्नोपशमश्रेणि, सादिसपर्यवसित पूर्व प्रतिपन्नोपशमश्रेणि उपशमश्रेणि प्रतिपद्य वेदोपशमोत्तरकालावेदकत्वमनुभूय श्रेणिसमाप्तौ भवक्षयाद्पान्तराले मरणतो वा प्रतिपततो वेदोदये पुन सवेदकत्वोपपत्ते, तत्र योऽसौ सादिसपर्यवसितो जघन्येनान्तर्मुहूर्त्त श्रेणिसमाप्तौ सवेदकत्वे सति पुनरन्तर्मुहूर्त्तेन श्रेणिप्रतिपत्ताववेदकत्वभावात्, आह—किमेकस्मिन्

जन्मनि वेलाद्वयमुपशमश्रेणिलाभो भवति ? यदेवमुच्यते, सत्यमेतद्भवति, तथा चाह—मूलटीकाकार --"नैकस्मिन् जन्मनि उपशमश्रेणि क्षपकश्रेणिश्च जायते, उपशमश्रेणिद्वय तु भवत्येवे" ति, तत एवमुपपद्यते—जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽनन्त काल, तमेव कालक्षेत्राभ्या निरूपयति—अनन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पिण्य एषा कालतो मार्गणा, क्षेत्रतोऽपार्द्धपुद्गलपरावर्त्त देशोनम्, एतावत कालादूर्ध्वं पूर्वप्रतिपन्नोपशमश्रेणेरवश्य मुक्त्यासन्नतया श्रेणिप्रतिपत्ताववेदकत्वभावात् । 'अवेदए ण भते ! इत्यादि प्रश्नसूत्र पाठसिद्ध, भगवानाह—गौतम ! अवेदको द्विविध प्रज्ञप्तस्तद्यथा सादिको वाऽपर्यवसित [समयानन्तर] क्षीणवेद , सादिको वा सपर्यवसित - उपशान्तवेद , तत्र योऽसौ सादिसपर्यवसितोऽवेदक. स च जघन्येनैक समय, उपशमश्रेणि—प्रतिपन्नस्य वेदोपशमसमयानन्तरेऽपि मरणे पुन सवेदकत्वोपपत्ते., उत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुपशान्तवेदश्रेणिकाल, तत ऊर्ध्वं श्रेणी प्रतिपतने नियमत सवेदकत्वभावात् । अतर प्रतिपिपादयिषुराह—'सवेदगस्स ण भते ! इत्यादि प्रश्नसूत्र सुगम, भगवानाह—गौतम ! अनादिकस्यापर्यवसितस्य सवेदकस्य नास्त्यन्तर, अपर्यवसिततया सदा तद्भावापरित्यागात् अनादिकस्य सपर्यवसितस्यापि नास्त्यन्तर, अनादिसपर्यवसितो ह्यपान्तराले उपशमश्रेणिमप्रतिपद्य भाविक्षीणवेदो न च क्षीणवेदस्य पुन· सवेदकत्व प्रतिपाताभावात्, सादिकस्य सपर्यवसितस्य सवदकस्य जघन्येनैक समयमन्तर, द्वितीयवारमुपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य वेदोपशमसमयानन्तर कस्यापि मरणसम्भवात्, उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्त्त द्वितीय वारमुपशमश्रेणि प्रतिपन्नस्योपशान्तवेदस्य श्रेणिसमाप्तेरूर्ध्वं पुन सवेदकत्वाभावात् । अवेदकसूत्रे सादिकस्यापर्यवसितस्यावेदकस्य नास्त्यन्तर, क्षीणवेदस्य पुन. सवेदत्वाभावात्, वेदाना निर्मूलकाषकषितत्वात् सादिकस्य सपर्यवसितस्य जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं, उपशमश्रेणिसमाप्तौ सवेदकत्वे सति पुनरन्तर्मुहूर्त्तेनोपशमश्रेणिलाभतोऽवेदकत्वोपपत्ते , उत्कर्ष-

तोऽनन्त काल, अनन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पिण्य कालत, क्षेत्रतोऽपार्द्धपुद्गल-परावर्त्त देशोन, एकवारमुपश्रेणि प्रतिपद्य तत्रावेदको भूत्वा श्रेणिसमाप्तौ सवेदकत्वे सति पुनरेतावता कालेन श्रेणिप्रतिपत्तावेदकत्वोपपत्ते । अल्पबहुत्वमाह—'एएसि ण भते ! जीवा' इत्यादि—पूर्ववत् । प्रकारान्तरेण द्वैविध्यमाह—'अहवे' त्यादि, अथवा द्विविधा सर्वजीवा. प्रज्ञप्तास्तद्यथा—सकषायिकाश्च अकषायिकाश्च, सह कषाया येषा यैर्वा ते सकाषाया त एव सकषायिका: प्राकृतत्वात् स्वार्थे इकप्रत्यय, एव न विद्यन्ते कषाया येषा ते अकषाया, २ एवाकषायिका । सम्प्रति कायस्थितिमाह—'सकसाइयस्से' त्यादि, सकषायिकस्य त्रिविधस्यापि सचिट्ठणा कायस्थितिरन्तर च यथा सवेदकस्य, अकषायिकस्य द्विविध-भेदस्यापि कायस्थितिरन्तर च यथाऽवेदकस्य तच्चैवम् —'सकसाइए ण भते ! 'सकसाइय' ति कालतो केवचिर होइ ? गोयमा ! सकसाइए तिविहे पन्नत्ते, तजहा—अणाइए वा अपज्जवसिए, अणाइए वा सपज्जवसिए, साइए वा सपज्जवसिए, तत्थ जे से साइए सपज्जवसिए से जहण्णेण अतोमुहुत्त, उक्कोसेण अणत काल—अणता ओसप्पणिउस्सप्पिणीओ कालतो खेत्तती अवड्ढपोग्गलपरियट्ट देसूण, अकसाइए ण भते ! अकसाइय त्ति कालओ केवचिर होइ ? गोयमा ! अकसाइए— दुविहे पण्णत्ते, तजहा—साइए वा अपज्जवसिए, साइए वा सपज्जवसिए, तत्थ ण जे साइए सपज्जवसिए से जहण्णेण एक्क समय उक्कोसेण अंतोमुहुत्त । सकसाइयस्स ण भते ! अतर कालतो केवचिर होइ ? गोयमा ! अणाइयस्स अपज्जवसियस्स नत्थि अतर, अणाइयस्स सपज्जवसियस्स नत्थि अतर, साइयस्स सपज्जवसियस्स जहण्णेण एक्क समय उक्कोसेण अतोमुहुत्त, अकसाइयस्स ण भते ! केवइय काल अतर होइ ? साइयस्स

अणज्जवसियस्स णत्थि अतर, साइयस्स सपज्जवसियस्स जहण्णेण अतोमुहुत्त उक्कोसेण अनत काल जाव अवड्ढ पोग्गलपरियट्ट देसूण' मिति,अस्य व्याख्या पूर्ववत्। अल्पबहुत्वमाह–'एएसि भते ! जीवाण सकसाइयाण' मित्यादि प्राग्वत्। प्रकारान्तरेण द्वैविध्यमाह।

हिन्दी–भावार्थ

अथवा सर्वजीव दो प्रकार के कहे गये है। जैसेकि सेन्द्रिय और अनिन्द्रिय।

अनगार गौतम बोले—भगवन् ! सेन्द्रिय जीव काल से कब तक रहता है ?

भगवान महावीर ने कहा–गौतम ! सेन्द्रिय जीव दो प्रकार के होते है—१ अनादि-अनन्त, और २ अनादि सान्त। कितु अनिन्द्रिय (सिद्ध) जीव सादि-अनन्त होते है। दोनो प्रकार के जीवो के अन्तर नही होता है। सब से कम अनिन्द्रिय जीव होते हैं। इन की अपेक्षा सेन्द्रिय जीव अनन्त गुणा अधिक होते है।

अथवा सर्वजीव दो प्रकार के कहे गए है। जैसेकि सकायिक (पृथ्वी आदि काय वाले , अकायिक (काय से रहित, सिद्ध)। इसी प्रकार सयोगी(मन,वचन,काया के व्यापार वाले) और अयोगी (सिद्ध), सलेश्य कृष्ण, नील आदि लेश्याओ वाले), और अलेश्य लेश्याओ से रहित-सिद्ध , सशरीर (औदारिक आदि शरीर वाले), और अशरीर (शरीर-रहित, सिद्ध)।

सकायिक आदि सभी जीवो का सस्थान (अवस्थिति), अन्तर, और अल्पबहुत्व सेन्द्रिय जीवो के समान समझना

चाहिए।

अथवा सर्वजीव दो प्रकार के कहे गए है। जैसेकि सवेदक (स्त्री, आदि वेद वाले) और अवेदक (वेदरहित)।

अनगार गौतम बोले–भगवन्! सवेदक जीव कितने प्रकार के होते है?

भगवान महावीर ने कहा—गौतम! सवेदक जीव तीन प्रकार के होते है। जैसेकि—१–अनादि-अनन्त, २—अनादि-सान्त, ३–सादि-सान्त। इन मे से जो सादि-सान्त जीव है, उन की अवस्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त, और उत्कृष्ट अनन्त काल तक है। यावत् क्षेत्र से *देशोन अपार्ध पुद्गल परिवर्तन तक है।

अनगार गौतम बोले–भदन्त! अवेदक जीव काल की अपेक्षा से कब तक रहता है?

भगवान महावीर ने कहा–गौतम! अवेदक जीव दो प्रकार के कहे गये है। जैसेकि–१–सादि-अनन्त और २-सादि-सान्त। इन मे से जो सादि सान्त है, उनकी जघन्य स्थिति एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त की होती है।

अनगार गौतम बोले—भगवन्! सवेदक जीव का अन्तर कितने समय का होता है?

भगवान महावीर ने कहा—गौतम! अनादि-अनन्त तथा अनादि-सान्त सवेदक जीव का अन्तर नही होता है। किंतु सादि-सान्त सवेदक जीव का अन्तर जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त का होता है।

---

*पुद्गलपरिवर्तन के अर्थ के लिए देखो, श्री जैनसिद्धान्त बोलसंग्रह भाग ३, पृष्ठ १३८।

अनगार गौतम बोले—भगवन्! अवेदक जीव का अन्तर कितने समय का होता है?

भगवान महावीर ने कहा—गौतम! सादि-अनन्त अवेदक जीव का अन्तर नही होता है, किन्तु सादि-सान्त अवेदक जीव का अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अनन्त काल का होता है। यावत् क्षेत्र से देशोन अपार्ध पुद्गलपरावर्तन का होता है।

सवेदक और अवेदक जीवो का अल्प-बहुत्व इस प्रकार है—

सब से कम अवेदक जीव है, और सवेदक इन से अनत गुणा अधिक है। सकषायी और अकषायी जीवो का अन्तर सवेदक जीवो के समान समझना चाहिए।

अथवा सर्वजीव दो प्रकार के कहे गए है। जैसे कि-सलेश्य (कृष्ण आदि लेश्याओ वाले) और अलेश्य (लेश्याओं से रहित)। सब से कम अलेश्य है, सलेश्य इन से अनन्त गुणा अधिक होते है।

मूल पाठ

*णाणी चेव अण्णाणी चेव। णाणी ण भते! कालओ० ? २ दुविहे पण्णत्ते—सातीए वा अपज्जवसिए, सादीए वा सपज्जवसिए। तत्थ ण जे से सादीए सपज्ज-

---

* ज्ञानिनश्चैव अज्ञानिनश्चैव। ज्ञानी भदन्त! कालत.० ? २ द्विविध. प्रज्ञप्त.। सादिको वा अपर्यवसित., सादिको वा सपर्यवसित.। तत्र य सादिक सपर्यवसित., स जघन्येन अन्तर्मुहूर्तम्, उत्कर्षेण षट्षष्टि-सागरोपमानि सातिरेकाणि। अज्ञानिनो यथा सवेदका।

वसिते, से जहण्णेण अतोमुहुत्त उक्कोसेण छावोट्ठसागरोवमाइ सातिरेगाइ, अण्णाणी जहा सवेदया। णाणिस्स अतर—जहण्णेण अतोमुहुत्त, उक्कोसेण अणत काल, अवड्ढ पोग्गलपरियट्ट देसूण। अण्णाणियस्स दोण्ह वि आदिल्लाण णत्थि अतर, सादियस्स सपज्जवसियस्स जहण्णेण अतोमुहुत्त, उक्कोसेण छावट्ठि सागरोवमाइ साइरेगाइ। अप्पाबहु सव्वत्थोवा णाणो अण्णाणी अणतगुणा।

अहवा दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता—सागरोवउत्ता य अणागारोवउत्ता य, सचिट्ठणा अतर च जहण्णेण उक्कोसेण वि अन्तोमुहुत्त, अप्पाबहु सागरोवउत्ता संखे०।

सस्कृत—व्याख्या

अहवेत्यादि अथवा द्विविधाः सर्वजीवा' प्रज्ञप्तास्तद्यथा—सलेश्याश्च

ज्ञानिनोऽन्तरम्—जघन्येन अन्तर्मुहूर्तम उत्कर्षेण अनन्त कालम्, अपार्धं पुद्गलपरिवर्तं देशोनम्। अज्ञानिनो द्वयोरपि आद्ययोर्नास्त्यन्तरम्। सादिकस्य सपर्यवसितस्य जघन्येन अन्तर्मुहूर्तम्, उत्कर्षेण षट्षष्टि सागरोपमानि सातिरेकानि। अल्पबहुत्वम्—सर्वस्तोका ज्ञानिन, अज्ञानिनोऽनन्तगुणा।

अथवा द्विविधा सर्वजीवा प्रज्ञप्ता। साकारोपयुक्ताश्च अनाकारोपयुक्ताश्च। सस्थानम्, अन्तर च जघन्येन उत्कर्षेणापि अन्तर्मुहूर्तम्। अल्पबहुत्वम्—साकारो० सख्य०।

अलेश्याश्च, तत्र सलेश्यस्य कायस्थितिरन्तर चासिद्धस्येव, अलेश्यस्य कायस्थिनिरन्तर च यथा सिद्धस्य । अल्पबहुत्व प्राग्वत् ।

भूयः प्रकारान्तरेण द्वैविध्यमाह—अहवे त्यादि, अथवा द्विविधा सर्वजीवा प्रज्ञप्तास्तद्यथा—ज्ञानिनश्च अज्ञानिनश्च, ज्ञानमेषामस्तीति ज्ञानिन, न ज्ञानिनोऽज्ञानिन मिथ्याज्ञाना इत्यर्थ ।

सम्प्रति कायस्थितिमाह—'णाणी ण' मित्यादि—प्रश्नसूत्र सुगमम् । भगवानाह—गौतम ! ज्ञानी द्विविध प्रज्ञप्तस्तद्यथा—सादिको वा अपर्यवसित., स च केवली कवलज्ञानस्य साद्यपयवसितत्वात्, सादिको वा सपर्यवसिनो मतिज्ञानादिमान्, मतिज्ञानादीना छाद्मस्थिकतया सादिसपर्यवसितत्वात् । तत्थ ण' मित्यादि, तत्र योऽसौ सादिक सपर्यवसिन स जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं, सम्यक्त्वस्य जघन्यत एतावन्मात्रकालत्वात् सम्यकत्ववतश्च ज्ञानित्वात् यथोक्तम्—सम्यग्दृष्टेर्ज्ञान मित्यादृष्टेर्विपर्यास' इति उत्कर्षत षष्ठषष्टि सागरोपमाणि सातिरेकाणि सम्यग्दर्शनकालस्याप्युत्कर्षत एतावन्मात्रत्वात्, अप्रतिपतितसम्यक्त्वस्य विजयादिगमनश्रवणात्, तथा च भाष्यम्—

दो वारे विजयाइसु गयस्स तिन्निऽच्चुए अहव ताइ ।
अइरेग नर-भविय नाणाजीवाण सव्वद्धा* ।। १ ।।

अण्णाणी ण भते ! 'इत्यादि प्रश्नसूत्र सुगमम् भगवानाह—गौतम ! अज्ञानी त्रिविध प्रज्ञप्तस्तद्यथा—अनादिको वाऽपर्यवसित, अनादिका वा सपर्यवसितः, तत्रानाद्यपर्यवसितो यो न जातुचिदपि सिद्धि गन्ता, अनादिसपर्यवसितो योऽनादिमिथ्यादृष्टि सम्यक्त्वमासाद्याप्रतिपतितसम्यक्त्व एव क्षपकश्रेणिं प्रतिपत्स्यते, सादिसपर्यवसित. सम्यग्दृष्टिर्भूत्वा जातमिथ्यादृष्टिः स जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं सम्यक्त्वात् प्रतिपत्य पुनरन्त-

---

*द्वौ वारौ विजयादिषु गतस्य अथवा त्रीनच्युते तानि ।
अतिरेको नर-भविक नानाजीवाना सर्वाद्धा ।। १ ।।

मुहूर्त्तेन कस्यापि सम्यग्दर्शनावाप्ति—सम्भवात्, उत्कर्षेणानन्त कालं अनन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पिण्य कालत ,क्षेत्रतोऽपार्द्धं पुद्गलपरावर्त्त देशोनम् । साम्प्रतमन्तर प्रतिपादयति— णाणिस्स ण भते !' इत्यादि, ज्ञानिनो भदन्त ! अतर कालत· कियच्चिर भवति ?, भगवानाह— गौतम ! सादिकस्यापर्यवसितस्य नास्त्यन्तरम्, अपर्यवसितत्वेन सदा तद्भावापरित्यागात्, सादिकस्य सपर्यवसितस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं, एतावता मिथ्यादर्शनकालेन व्यवधानेन भूयोऽपि ज्ञानाभावात्, उत्कर्षेण अनन्त काल, अनन्ता उत्सर्प्पिण्यवसर्प्पिण्य कालत , क्षेत्रतोऽपार्द्धं पुद्गलपरावर्त्त देशोन, सम्यद्दृष्टे सम्यक्त्वात्प्रतिपतितस्यैतावन्त काल मिथ्यात्वमनुभूय तदनन्तरमवश्य सम्यक्त्वासादनात्—'अण्णाणिस्स ण भते !' इत्यादि प्रश्नसूत्र सुगम, भगवानाह—गौतम ! अनाद्यपर्यवसितस्य नान्त्यन्तरम्, अपर्यवसितत्वादेव, अनादिसपर्यवसिनस्यापि नास्त्यन्नर अवाप्तकेवलज्ञानम्य प्रतिपाताभावात् । सादिसपर्यवसानस्य जघन्येनान्तर्मुहूर्त्त, जघन्यस्य सम्यग्दर्शनकालस्यैतावन्मात्रत्वात्, उत्कर्षत षटषष्टि सागरोपमाणि सानिरेकाणि, एतावतोऽपि कालादूर्ध्वं सम्यग्दर्शनप्रनिपाते सत्यज्ञानभावात् । अल्पबहुत्वसूत्र प्राग्वत् । प्रकारान्तरेण द्वैविध्यमाह – 'अहवे' त्यादि, अथवा द्विविधा सर्वजीवा प्रज्ञप्तास्तद्यथा—साकारोपयुक्ताश्च, अनाकारोपयुक्ताश्च । सम्प्रति कायस्थितिमाह- 'सागारोवउत्ता ण भते !' इह छद्मस्था एव सर्वजीवा विवक्षिता, न केवलिनोऽपि 'विचित्रत्वात् सूत्रगते' रिति द्वयानामपि कायस्थितान्तरे चैकसामयिकोऽप्युच्येत । अल्पबहुत्व—चिन्ताया सर्वस्तोका अनाकारोपयुक्ता., अनाकारोपयोगस्य स्तोककालतया पृच्छासमये तेषा स्तोकानामेवावाप्यमानत्वात् । साकारोपयुक्ताः सङ्ख्येयगुणा , अनाकारोपयोगाद्धात. साकारोपयोगाद्धायाः सङ्ख्येयगुणत्वात् ।

हिन्दी–भावार्थ

अथवा सर्वजीव दो प्रकार के कहे गए है। जैसेकि ज्ञानी और अज्ञानी।

अनगार गौतम बोले—भगवन्! ज्ञानी जीव कब तक रहते है?

भगवान महावीर ने कहा—गौतम! ज्ञानी जीव दो प्रकार के होते है। जैसेकि—सादि-अनन्त, और सादि-सान्त। इन मे जो जीव सादि-सान्त होते है, उनकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट कुछ अधिक ६६ सागरोपम की होती है। अज्ञानी जीवो को सवेदक जीवो के समान समझना चाहिए। ज्ञानी जीवो का अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट अनन्तकाल तक होता है। अनन्तकाल के भी अनन्त भेद होते है, किन्तु प्रस्तुत मे उस अनन्त का ग्रहण करना चाहिए जिस मे कुछ कम अपार्ध पुद्गल परावर्तन जितना समय लग जाता है। पहले दो प्रकार के अज्ञानी जीवो का अन्तर नही होता है, परन्तु सादि-सान्त अज्ञानी जीवो का जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त, और उत्कृष्ट अन्तर कुछ अधिक ६६ सागरोपम तक होता है। इन जीवो का अल्पबहुत्व इस प्रकार है—

सब से कम ज्ञानी जीव है। इन को अपेक्षा अज्ञानी जीव अनन्तगुणा अधिक है।

अथवा सर्वजीव दो प्रकार के कहे गए है। जैसेकि—

१—साकारोपयुक्त (ज्ञानोपयोग वाले), २-अनाकारोपयुक्त (दर्शनोपयोग वाले)। टीकाकर के मतानुसार यहा सर्वजीव शब्द से छद्मस्थ जीवो का ही ग्रहण करना सूत्रकार को इष्ट है। उनके कथनानुसार यहा केवली और सिद्ध जीवो का ग्रहण नही करना चाहिए। इन दोनो प्रकार के जीवो का

अवस्थितिकाल और अन्तरकाल जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है। इन का अल्पबहुत्व इस प्रकार है—

सब से कम अनाकारोपयोग वाले जीव है, और साकारोपयोग वाले जीव इन की अपेक्षा सख्येय गुणा अधिक है।

मूल पाठ

अहवा दुविहा सव्वजोवा पण्णत्ता, तजहा—आहारगा चेव अणाहारगा चेव।

आहारए ण भते ! जाव केवच्चिर होति ?

गोयमा ! आहारए दुविहे पण्णत्ते, तजहा——छउमत्थआहारए य केवलिआहारए य।

छउमत्थआहारए ण जाव केवच्चिर होति ?

गोयमा ! जहण्णेण खुड्डाग भवग्गहण दुसमयऊण, उक्को० असखेज्ज काल जाव काल० खेत्ताओ अगुलस्स

---

* अथवा द्विविधा सर्वजीवा प्रज्ञप्ता:। तद्यथा—आहारकाश्चैव, अनाहारकाश्चैव। आहारको भदन्त ! यावत् कियच्चिर भवति ? गौतम ! आहारको द्विविध प्रज्ञप्त। तद्यथा—छद्मस्थाहारकश्च, केवलि-आहारकश्च। छद्मस्थाहारको यावत् कियच्चिर भवति ? गौतम! जघन्येन क्षुल्लक भवग्रहण द्विसमयोनम्, उत्कर्षेण असख्येयकाल यावत् काल०, क्षेत्रतोऽगुलस्य असख्येयभागम्। केवलि-आहारको यावत् कियच्चिर भवति ? गौतम ! जघन्येन अन्तर्मुहूर्तम्, उत्कर्षेण देशोना पूर्वकोटि.। अनाहारको भदन्त ! कियच्चिर० ? गौतम ! अनाहारको द्विविध प्रज्ञप्त। तद्यथा—छद्मस्थानाहारकश्च, केवलि-अनाहारकश्च।

असखेज्जतिभाग।

केवलिआहारए ण जाव केवच्चिर होइ ?

गोयमा ! जहण्णेण अतोमुहुत्त उक्कोसेण देसूणा पुव्वकोडो ।

अणाहारए ण भते ! केवच्चिर० ?

छद्मस्थानाहारको यावत् कियच्चिर भवति०? गौतम ! जघन्येन एकं समयम्, उत्कर्षेण द्वौ समयौ । केवलि-अनाहारको द्विविध प्रज्ञप्त:, तद्यथा—सिद्धकेवलि-अनाहारकश्च, भवस्थकेवलि-अनाहारकश्च । सिद्ध-केवलि-अनाहारको भदन्त ! कालत कियच्चिर भवति ? सादिकोऽपर्य-वसित । भवस्थकेवलि-अनाहारको भदन्त ! कतिविध प्रज्ञप्त.? भवस्थ-केवलिमनाहारका द्विविध प्रज्ञप्त —सयोगिभवस्थकेवलि-अनाहारकश्च, अयोगि-भवस्थकेवलि-अनाहारकश्च । सयोगी-भवस्थकेवलि-अनाहारको भदन्त ! कालत कियच्चिर० ? अजघन्यानुत्कर्षेण त्रीन् समयान् । अयोगिभवस्थकेवलि० जघन्येन अन्तर्मुहूर्तम्, उत्कर्षेण अन्तर्मुहूर्तम् । छद्मस्थाहारकस्य कियन्तं कालमन्तरम्० ? गौतम ! जघन्येन एक समयम्, उत्कर्षेण द्वौ समयौ । केवलि-आहारकस्य अन्तरम्—अजघन्यानुत्कर्षेण त्रीन् समयान् । छद्मस्थानाहारकस्यान्तरम्—जघन्येन क्षुल्लक भवग्रहण द्विसमयोनम्, उत्कर्षेण असख्येय काल यावद् अगुलस्यासख्येयभागम् ।

सिद्ध-केवलि-अनाहारकस्य सादिकस्य अपर्यवसितस्य नास्त्यन्तर, सयोगिभवस्थ-केवलि-अनाहारकस्य जघन्येन अन्तर्मुहूर्तम्, उत्कर्षेणापि । अयोगिभवस्थकेवलि-अनाहारकस्य नास्त्यन्तरम् । एतेषा भदन्त ! आहारकाणामनाहारकाणाञ्च कतरे कतरेभ्योऽल्पा बहव: ? गौतम ! सर्वस्तोका अनाहारका, आहारका असख्येया: ।

गोयमा ! अणाहारए दुविहे पण्गत्ते, तजहा—छउमत्थअणाहारए य केवलिअणाहारए य ।

छउमत्थअणाहारए ण जाव केवच्चिर होति ?

गोयमा ? जहण्णेण एक्क समय उक्कोस्सेण दो समया । केवलिअणाहारए दुविहे पण्णत्ते, तजहा—सिद्ध—केवलिअणाहारए य भवत्थकेवलिअणाहारए य ।

सिद्ध–केवलि-अणाहारए ण भते ! कालओ केवच्चिर होति ?, सातिए अपज्जवसिए ।

भवत्थकेवलि-अणाहारए ण भते ! कइविहे पण्णत्ते ?

भवत्थकेवलि-अणाहारए दुविहे पण्णत्ते—सजोगिभवत्थकेवलिअणाहारए य अजोगिभवत्थकेवलिअणाहारए य ।

सजोगिभवत्थकेवलिअणाहारए ण भते ! कालओ केवच्चिर होति ?,

अजहण्णमणुक्कोसेण तिण्णि समया । अजोगिभवत्थकेवलिअणाहारए जह० अतो०, उक्को० अंतोमुहुत्तं ।

छउमत्थआहारगस्स केवलिय काल अतरं० ?,

गोयमा ! जहण्णेण एक्क समय, उक्को० दो समया । केवलिआहारगस्स अंतर—अजहण्णमणुक्कोसेण तिण्णि समया । छउमत्थअणाहारगस्स अतर

जहण्णेण खुड्डागभवग्गहण दुसमयऊण उक्को०असखेज्ज काल जाव अगुलस्स असखेज्जतिभाग । सिद्धकेवलिअ-णाहारगस्स सातीयस्स अपज्जवसियस्स णत्थि अतर । सजोगिभवत्थकेवलिअणाहारगस्स जह० अतो० उक्को-सेण वि, अजोगिभवत्थकेवलिअणाहारगस्स णत्थि अतर ।

एएसि ण भते ! आहारगाण अणाहारगाण य कयरे २ हितो अप्पाबहु० ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा अणाहारगा, आहारगा असखेज्जा ।

सस्कृत—व्याख्या

'अहवे' त्यादि, अथवा द्विविधा सर्वजीवा: प्रज्ञप्तास्तद्यथा—आहारकाश्च अनाहारकाश्च । अधुना कायस्थितिमाह—'आहारगे ण भते !' इत्यादि । प्रश्नसूत्र सुगम, भगवानाह—गौतम ! आहारको द्विविध प्रज्ञप्तस्तद्यथा-छद्मस्थाहारक केवल्याहारक, तत्र छद्मस्था-हारको जघन्येव क्षुल्लकभवग्रहण द्विसमयोन, एतच्च जघन्याधिकाराद्वि-ग्रहेणागत्य क्षुल्लकभवग्रहणवत्सूत्पादे परिभावनीय, तत्र यद्यपि नाम लोकान्तनिष्कुटादावुत्पादे चतु सामायिकी पञ्चसामयिकी च विग्रह-गतिर्भवति तथाऽपि बाहुल्येन त्रिसामयिक्येवेति तामेवाधिकृत्य सूत्र-मिदमुक्तम् ।

इत्थमेवान्येषामपि पूर्वाचार्याणा प्रवृत्तिदर्शनात् उक्तञ्च—"एक द्वौ वा ऽनाहारक:" (तत्त्वा० अ० २ सू० ३१)

इति, त्रिसामयिक्या च विग्रहगतावाद्यौ द्वौ समयावनाहारक इति ताभ्यां हीनमुक्त, उत्कर्षतोऽसङ्ख्येय -कालम्, असङ्ख्येया उत्सर्प्पिण्य-वसर्प्पिण्य कालत, क्षेत्रतोऽङ्गुलस्यासङ्ख्येयो भाग:, किमुक्त भवति?-अङ्गुलमात्रक्षेत्राङ्गुलासङ्ख्येयभागे यावन्त आकाशप्रदेशास्तावन्त: प्रतिसमयमेकैकप्रदेशापहारे यावता कालेन निर्लेपा भवन्ति तावत्य उत्सर्प्पिण्यवसर्प्पिण्य इति, तावन्त हि कालमविग्रहेणोत्पाद्यते, अविग्रहोत्पत्तौ च सततमाहार । केवल्याहारकप्रश्नसूत्र पाठसिद्ध, भगवानाह—गौतम! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्त, स चान्तकृत् केवली प्रतिपत्तव्य', उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी, सा च पूर्वकोटद्यायुषो नववर्षादारभ्योत्पन्न-केवलज्ञानस्य परिभावनीया । अनाहारकविषय सूत्रमाह—'अनाहारए ण भंते ! इत्यादि प्रश्नसूत्र सुगमम्, भगवानाह—गौतम ! अनाहारको द्विविध प्रज्ञप्त'—छद्मस्थोऽनाहारक: केवल्यनाहारकश्च । छद्मस्थानाहारकप्रश्नसूत्र सुगमम् । भगवानाह— गौतम ! जघन्यत एक समय, जघन्याधिकाराद्द्विसामयिकी विग्रहगतिमपेक्ष्यैतदवसातव्य, उत्कर्षतो द्वौ समयौ त्रिसामयिक्या एव विग्रहगतेर्बाहुल्येनाश्रयणात् । आह च चूर्णिकृत्— ''यद्यपि भगवत्या चतु -सामयिकोऽनाहारक उक्तस्तथाऽप्यत्र नाङ्गीक्रियते, कादाचित्कोऽसौ भावो येन, बाहुल्यमेवाङ्गीक्रियते, बाहुल्याच्च समयद्वयमेवे' ति । केवल्यनाहारकसूत्र पाठसिद्ध, भगवानाह—गौतम ! केवल्यनाहारको द्विविध. प्रज्ञप्तस्तद्यथा भवस्थकेवल्यनाहारक सिद्धकेवल्यनाहारक । सिद्धकेवलिअणाहारए ण भंते !' इत्यादि प्रश्न-सूत्र सुगमम् । भगवानाह—गौतम ! सादिकापर्यवसित:, सिद्धस्य साद्यपर्यवसिततयाऽनाहारकत्वस्यापि तद्विशिष्टस्य तथाभावात् । 'भवत्थकेवलि-अणाहारए ण भंते!' इत्यादि प्रश्न-सूत्र सुगमम्, भगवानाह—गौतम ! भवस्थकेवल्यनाहारको द्विविध प्रज्ञप्त —सयोगिभवस्थकेवल्यनाहारकोऽयोगिभवस्थकेवल्यनाहारकश्च, तत्रायोगिभवस्थकेवल्यनाहारकप्रश्नसूत्र

सुगम, भगवानाह—गौतम ! जघन्येनाप्यन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तम्, अयोगित्व नाम हि शैलेश्यवस्था तस्या नियमादनाहारक औदारिकादि-काययोगाभावात्, शैलेश्यवस्था च जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुहूर्त्त, नवर जघन्यपदादुत्कृष्टमधिकमवसेयम्, अन्यथोभयपदोपन्यासायोगात् । 'सजोगिभवत्थकेवलिअणाहारए ण भते !' इत्यादि प्रश्नसूत्र सुगम, भगवानाह—गौतम ! अजघन्योत्कर्षेण त्रय समया, ते चाष्टसामयिक-केवलिसमुद्घातावस्थाया तृतीयचतुर्थपञ्चमरूपा: तेषु केवलकार्म्मणकाय-योगभावात् उक्तञ्च—

कार्म्मणशरीरयोगी चतुर्थके पञ्चके तृतीये च ।
समयत्रयेऽपि तस्माद्भवत्यनाहारको नियमात् ॥१॥

साम्प्रतमन्तर चिन्तयन्नाह--छउमत्थाहारयस्स ण भते ! 'इत्यादि । छद्मस्थाहारकस्य भदन्त ! अन्तर कालत कियच्चिर भवति? भगवानाह—गौतम ! जघन्येनैक समयमुत्कर्षतो द्वौ समयौ, यावानेव हि कालो जघन्यत उत्कर्षतश्च छद्मस्थानाहारकस्य तावानाहारकस्यान्तरकाल:, स च कालो जघन्येनैक समय, उत्कर्षतो बाहुल्यमङ्गीकृत्य व्यवह्रियमाणाया त्रिसामयिक्या विग्रहगतौ द्वौ समयावित्याहारकस्याप्यन्तर तावदिति । केवल्याहारकप्रश्नसूत्र सुगमम्, भगवानाह—गौतम ! अजघन्योत्कर्षेण त्रय. समया', केवल्याहारको हि सयोगिभवस्थकेवली, तस्य चानाहार-कत्व त्रीनेव समयान् यथोक्त प्रागित्यन्तर केवल्याहारकस्य तावदिति । सम्प्रत्यनाहारकस्यान्तर चिचिन्तयिषु प्रथमतश्छद्मस्थानाहारकस्याह— 'छउमत्थाणाहारयस्स ण भते !' इत्यादि प्रश्नसूत्र सुगमम्, भगवानाह—गौतम ! जघन्येन क्षुल्लकभवग्रहण द्विसमयोन, उत्कर्षतोऽसङ्ख्-येय काल यावदङ्गुलस्यासङ्ख्येयो भाग:, यावानेव हि छद्मस्थाहार-कस्य कालस्तावानेव छद्मस्थानाहारकस्यान्तर, छद्मस्थाहारकस्य च जघन्यत कालोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽसङ्ख्येया उत्सर्प्पिण्यवसर्प्पिण्य: कालत, क्षेत्रतोऽङ्गुलस्यासङ्ख्येयो भाग:, एतावन्त काल सततमवि-

ग्रहेणोत्पादसम्भवात्, ततश्छद्मस्थानाहारकस्य जघन्यत उत्कर्षतश्चैताव-दन्तरमिति। अथ स्थाने २ क्षुल्लकभवग्रहणमित्युक्त तत्र क्षुल्लकभव-ग्रहणमिति क शब्दार्थ ?, उच्यते, क्षुल्ल लघुस्तोकमित्येकोऽर्थ, क्षुल्लमेव क्षुल्लकम्--एकायुष्कसवेदनकालो भवस्तस्य ग्रहण--सवन्धन भवग्रहण, क्षुल्लक च तद् भवग्रहण च क्षुल्लकभवग्रहण, तच्चावलिकातश्चिन्त्यमान षट्पञ्चाशदधिकमावलिकाशतद्वयम्, अथकस्मिन् आनप्राणे कियन्ति क्षुल्लकभवग्रहणानि भवन्ति ? उच्यते—किञ्चित्समधिकानि सप्तदश। कथमिति चेदुच्यते--इह मुहूर्त्तमध्ये सर्वसङ्ख्येया पञ्चषष्टि सहस्राणि पञ्चशतानि षट्त्रिंशानि क्षुल्लकभवग्रहणाना भवन्ति, यत उक्त चूर्णौ-

पन्नट्ठिसहस्साइ पचेव सया हवति छत्तीसा।
खुड्डागभवग्गहणा हवति अतोमुहुत्तमि ॥१॥

आनप्राणाश्च मुहूर्त्ते त्रीणि सहस्राणि सप्तशतानि त्रिसप्तत्यधिकानि, उक्तञ्च— तिन्नि सहस्सा सत्त य सयाइ तेवत्तरि च ऊसासा।
एस मुहुत्तो भणिओ सव्वेहि अणतनाणोहि ॥१॥

ततोऽत्र त्रैराशिककर्मावतार यदि त्रिसप्तत्यधिकसप्तशतोत्तरैस्त्रिभि सहस्रैरुच्छ्वासाना पञ्चषष्टि सहस्राणि पञ्चशतानि षट्त्रिंशानि क्षुल्लक-भवग्रहणाना भवन्नि तत एकेनोच्छ्वासेन किं लभामहे? राशित्रयस्थापना--३७७३।६५५३६।१। अत्रान्त्यराशिना एककलक्षणेन मध्यराशेर्गुणनाज्जात स तावानेव, 'एकेन गुणित तदेव भवती'ति न्यायात्, तत आद्येन राशिना भागहरण, लब्धा. सप्तदश क्षुल्लकभवा शेषास्त्ववशास्तिष्ठन्ति, तत्र त्रयोदश शतानि पञ्चनवत्यधिकानि, उक्तञ्च—

सत्तरस भवग्गहणा खुड्डाण भवति आणुपाणमि।
तेरस चेव सयाइ पचाणइ चेव असाण ॥१॥

अथैतावद्भिरशै कियत्य आवलिका लभ्यन्ते ? उच्यते, समधिकचतुर्नवति। तथाहि—षट्पञ्चाशदधिकेन शतद्वयेनावलिकाना त्रयोदश शतानि पञ्चनवतानि गुण्यन्ते, जातानि त्रीणि लक्षाणि सप्तपञ्चाशत्सहस्राणि शतमेक विंशत्यधिक ३५७१२०, छेदराशि: स

एव ३७७३, लब्धा चतुर्नवतिरावलिका. शेषास्त्वशा श्रवलिकायास्तिष्ठन्ति चतुर्विंशति शतानि अष्टपञ्चाशानि, छेद स एव २४५८/३७७३, एव यदा एकस्मिन्नानप्राणे आवलिका सङ्ख्यातुमिश्यन्ते तदा सप्तदश द्वाभ्या षट्पञ्चाशदधिकाभ्या शताभ्या गुण्यन्ते, गुणयित्वा चोपरितनाश्चतुर्नवतिरावलिका प्रक्षिप्यन्ते, तत आवलिकाना चतुश्चत्वारिंशत् शतानि—षट् चत्वारिंशानि भवन्ति, उक्तञ्च—

एक्को उ आणुपाणू, चोयालीस सया उ छायाला।
आवलियपमाणेण अणतनाणीहि निद्दिट्ठो ॥१॥

यदि पुनर्मुहूर्त्ते आवलिका सङ्ख्यातुमिष्यन्ते तत एतान्येव चतुश्चत्वारिंशच्छतानि त्रिसप्तत्यधिकानि भवन्तीति सप्तत्रिंच्छशतैस्त्रिसप्तत्यधिकैर्गुण्यन्ते, जाता एका कोटी सप्तषष्टिः शतसहस्राणि चतु सप्तति सहस्राणि सप्तशतानि अष्टापञ्चाशदधिकानि १६७७४७५८, येऽपि चावलिकाया अशाश्चतुर्विंशतिशतानि अष्टपञ्चाशदधिकानि २४५८ तेऽपि मुहूर्त्तगतोच्छ्वासराशिना ३७७३ गुण्यन्ते, अस्यैव छेदस्य ते अशा इत्यावलिकानयनार्थं तेनैव भागो ह्रियते, लब्धास्तावत्य एवावलिकाश्चतुर्विंशतिशतान्यष्टापञ्चाशानि २४५८, तानि मूलराशौ प्रक्षिप्यन्ते, जाता मूलराशिरेका कोटि सप्तषष्टिर्लक्षा. सप्तसप्तति सहस्राणि द्वे शते षोडशोत्तरे, एतावत्य आवलिका मुहूर्त्ते भवन्ति, यदि वा मुहूर्त्तगताना क्षुल्लकभवग्रहणाना पञ्चषष्टि-सहस्राणि पञ्चशतानि षट्त्रिंशानि एकभवग्रहणप्रमाणेन षट्पञ्चाशेन शतद्वयेनावलिकाना गुण्यन्ते तथाऽपि तावत्य एवावलिका भवन्ति, उक्तञ्च—

"एगा कोडी सत्तट्ठि लक्ख सत्तत्तरी सहस्सा य।
दा य सया सोलहिया आवलियाओ मुहुत्तमि ॥१॥

एव च यदुच्यते 'सखेज्जाओ आवलियाओ एगे ऊसासनीसासे' इत्यादि तदतीव समीचीनमिति कृत प्रसङ्गेन, प्रकृत प्रस्तुमः। तत्र सयोगिभवस्थकेवल्यनाहारकस्यान्तरमभिधित्सुराह—'सजोगिभवत्थकेवलिअणाहारयस्स ण भते!' इत्यादि प्रश्नसूत्र सुगमम्, भगवानाह—

गौतम ! जघन्येनाप्यन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षेणाप्यन्तर्मुहूर्त्त समुद्घातप्रतिपत्तेरनन्तरमेवान्तर्मुहूर्त्तेन शैलेशीप्रतिपत्तिभावात् नवर जघन्यपदादुत्कृष्टपद विशेषाधिकमवसातव्य अन्यथोभयपदोपन्यासायोगात् अयागिभवस्थकेवल्यनाहारकसूत्रे नास्त्यन्तरम्, अयोग्यवस्थाया सर्वस्याप्यनाहारकत्वात् । एव सिद्धस्यापि साद्यपर्यवसितस्यानाहारकस्यान्तराभावो भावनीय, साम्प्रतमेतेषामाहारकानाहारकाणामल्पबहुत्वमाह— एएसि ण भते !' इत्यादि प्रश्नसूत्र सुगमम्, भगवानाह—गौतम! सर्वस्तोका अनाहारका, सिद्धविग्रहगत्यापन्न समुद्घात-गतसयोगिकेवल्ययोगिकेवलिनामेवानाहारकत्वात् तेभ्य आहारका असङ्ख्येयगुणा, अथ सिद्धेभ्योऽनन्तगुणा वनस्पतिजीवास्ते च प्राय आहारका इत्यनन्तगुणा कथ न भवति ? उच्यते, इह प्रतिनिगोदमसङ्ख्येयो भाग. प्रतिसमय सदा विग्रहगत्यापन्नालभ्यते, अनाहारका. —

*विग्गहगइमावन्ना केवलिणो समुहया अजोगी य ।
सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारगा जीवा ॥१॥

इतिवचनात् ततोऽसङ्ख्येयगुणा एवाहारका घटन्ते नानन्तगुणा इति। प्रकारान्तरेण भूयो द्वैविध्यमाह ।

हिन्दी–भावार्थ

अथवा सर्वजीव दो प्रकार से कहे गए है। जैसेकि—आहारक और अनाहारक ।

अनगार गौतम बोले—भदन्त ! जीव आहारक कब तक रह सकते है ?

भगवान महावीर ने कहा—गौतम ! आहारक जीव दो प्रकार के होते है । जैसेकि—छद्मस्थ—आहारक, और केवलिआहारक ।

अनागार-गौतम बोले—भदन्त ! छद्मस्थ जीव आहारक

* विग्रहगत्यापन्ना' केवलिन. समुद्धता अयोगिनश्च ।
सिद्धाश्चानाहारा: शेषा आहारका जीवा ॥१॥

कब तक रहता है ?

भगवान महावीर ने कहा—गौतम ! जघन्य क्षुल्लक-भवग्रहण मे दो समय कम काल तक। क्षुल्लक भवग्रहण का अर्थ होता है—२५६ आवलिकाओ का एक भव करना। उत्कृष्ट काल यावत् असख्यात उत्सर्पिणो-अवसर्पिणो काल तक। क्षेत्र से अगुल के असख्यातवे भाग तक। अर्थात् अगुल के असख्यातमे भाग मे जितने आकाश प्रदेश है उनमे से एक-एक आकाश-प्रदेश को एक-एक समय मे निकालने पर, जि ने समय मे सारे आकाश प्रदेश निकाले जासके उतने उत्सर्पिणो और अवसर्पिणी काल तक छदमस्थ जोव आहारक रहते है।

अनगार गौतम बोले—भदन्त ! केवली भगवान आहारक कब तक रहते है ?

भगवान महावीर ने कहा—गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट कुछ कम करोड पूर्व काल तक।

अनगार गौतम बोले—भदन्त ! जीव अनाहारक कब तक रहते है ?

भगवान महावीर ने कहा—गौतम ! अनाहारक जीव दो प्रकार के होते है। जैसेकि—छद्मस्थ अनाहारक और केवली अनाहारक। छद्मस्थ अनाहारक जघन्य एक समय तक, और उत्कृष्ट दो समय तक। केवली अनाहारक दो प्रकार के कहे गये है। जैसेकि-सिद्ध केवली अनाहारक, और भवस्थ केवली अनाहारक।

अनगार गौतम बोले—भदन्त ! सिद्धकेवली जीव अनाहारक कब तक रहते है ?

भगवान महावीर ने कहा–गौतम ! सादि-अनन्त काल तक।

अनगार गौतम बोले—भदन्त ! भवस्थ केवली जीव अनाहारक कितने प्रकार के होते है ?

भगवान महावीर ने कहा—गौतम ! भवस्थकेवली अनाहारक जीव दो प्रकार के होते है। जसैकि-सयोगी भवस्थ केवली अनाहारक और अयोगी भवस्थ केवली अनाहारक।

अनगार गौतम बोले—भदन्त ! सयोगी भवस्थ केवली जीव अनाहारक कब तक रहते है ?

भगवान महावीर ने कहा—गौतम ! सयोगी भवस्थ केवली जीव जघन्य और उत्कृष्ट तीन समय तक अनाहारक रहते है। और अयोगीभवस्थ केवली जीव जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट भी अन्तर्मुहूर्त अनाहारक रहते है।

अनगार गौतम बोले—भदन्त ! छद्मस्थ आहारक जीव का अन्तरकाल कितना होता है ?

भगवान महावीर ने कहा—गौतम ! जघन्य एक समय और उत्कृष्ट दो समय तक। केवली आहारक जीव का अन्तरकाल जघन्य और उत्कृष्ट तीन समय तक होता है। छद्मस्थ अनाहारक जीव का अन्तरकाल-जघन्य दो समय कम क्षुल्लक-भवग्रहण तक और उत्कृष्ट असख्यात काल तक होता है, यावत् क्षेत्र की अपेक्षा अगुल का असख्यातवा भाग। सिद्ध-केवली अनाहारक जीव सादि-अनन्त होते है, इसलिए उनका अन्तर नही होता है। सयोगीभवस्थ केवली अनाहारक जीव का अन्तर जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट भी अन्तर्मुहूर्त ही होता है। अयोगी भवस्थ केवली अनाहारक जीव का अन्तर नही होता है।

अनागार गौतम बोले—भदन्त ! इन आहारक और अनाहारक जीवो मे कौन अल्प है और कौन अधिक है ?

भगवान महावीर ने कहा—गौतम ! सब से कम अनाहारक जीव होते है और आहारक जीव इन से असख्यात गुणा अधिक होते है।

मूल पाठ

*अहवा दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तजहा—सभासगा अभासगा य।

सभासए ण भते ! सभासए त्ति कालओ केवच्चिर होति ?

गोयमा ! जहण्णेण एक्क समय उक्कोसेण अतोमुहुत्त।

---

* अथवा द्विविधा सर्वजीवा प्रज्ञप्ता । तद्यथा—सभाषका, अभाषकाश्च । सभाषको भदन्त ! 'सभाषक' इति कालत कियच्चिर भवति ? गौतम ! जघन्येन एक समयम्, उत्कर्षेण अन्तर्मुहूर्तम् । अभाषको भदन्त ! ० ? गौतम ! अभाषको द्विविध प्रज्ञप्त । सादिको वा अपर्यसित, सादिको वा सपर्यवसित । तत्र य स सादिक सपर्यवसित, स जघन्येन अन्तर्मुहूर्तम्, उत्कर्षेण अनन्त कालम्, अनन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यो वनस्पतिकाल । भाषकस्य भदन्त! कियत्कालमन्तर भवति ? जघन्येन अन्तर्मुहूर्तम्, उत्कर्षेण अनन्त काल वनस्पतिकाल: । अभाषकस्य सादिकस्य अपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरम् । सादिकसपर्यवसितस्य जघन्येन एक समयम्, उत्कर्षेण अन्तर्मुहूर्तम् । अल्पबहुत्वम्-सर्वस्तोका भाषका, अभाषका अनन्तगुणा ।

अथवा द्विविधा सर्वजीवा: । सशरीरिणश्च, अशरीरिणश्च । अशरीरिणो यथा सिद्धा., स्तोका अशरीरिण. । सशरीरिण अनन्तगुणा: ।

अभासए ण भते ! ०? गोयमा ! , अभासए दुविहे पण्णत्ते—साइए वा अपज्जवसिए, सातीए वा सपज्जवसिए, तत्थ ण जे से साइए सपज्जवसिए से जह० अतो० उक्को० अणत काल, अणता उस्सप्पिणी-ओसप्पिणीओ वसस्सतिकालो ।

भासगस्स ण भते ! केवतिकाल अतर होति ?

जह० अतो० उक्को० अतो० अणत काल वणस्सतिकालो । अभासग० सातीयस्स अपज्जवसियस्स णत्थि अतर, सातीयसपज्जवसियस्स जहण्णेण एक्क समय उक्को० अतो० । अप्पाबहु० सव्वत्थोवा भासगा, अभासगा अणतगुणा ।

अहवा दुविहा सव्वजीवा, ससरीरी य असरीरी य । असरीरी जहा सिद्धा, थोवा असरीरी, ससरीरी अणतगुणा ।

सस्कृत—व्याख्या

'अहवे' त्यादि अथवा द्विविधा सर्वजीवा प्रज्ञप्तास्तद्यथा भाषकाश्च अभाषकाश्च, भाषमाणा भाषका इतरेऽभाषकाः । सम्प्रति कायस्थिति-माह—'सभासए ण भते !'—इत्यादि प्रश्नसूत्र सुगमम् ।

भगवानाह—गौतम ! जघन्येनैक समय भाषाद्रव्यग्रहणसमय एव मरणतोऽन्यतो वा कुतश्चित्कारणात्तद्व्यापारस्याप्युपरमात्, उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्त्त, तावन्त काल निरन्तर भाषाद्रव्यग्रहणनिसर्गसम्भवात् । तत उद्ध्वं जीवस्वाभाव्यान्नियमत एवोपरमति । अभाषकप्रश्नसूत्र सुगमम्, भगवानाह—गौतम ! अभाषका द्विविध प्रज्ञप्तस्तद्यथा—सादिको वा

अपर्यवसित सिद्ध , सादिको वा सपर्यवसित स च पृथिव्यादि', तत्र योऽसौ सादि सपर्यवसित स जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं, भाषणादुपरम्यान्तर्मुहूर्तेन कस्यापि भूयोऽपि भाषणप्रवृत्ते , पृथिव्यादिभवस्य वा जघन्यत एतावन्मात्रकालत्वात्, उत्कर्षतो वनस्पतिकाल , स चानन्ता उत्सर्प्पिण्यवसर्प्पिण्य कालत , क्षेत्रताऽनन्ता लोका असङ्ख्येया. पुद्गलपरावर्त्ता: ते च पुद्गलपरावर्त्ता आवलिकाया असङ्ख्येयो भाग. एतावन्त काल बनस्पतिष्वभाषकत्वात् । साम्प्रतमन्तर चिचिन्तयिषुराह—'भासगस्स ण भते !' इत्यादि प्रश्नसूत्र सुगमम्, भगवानाह—गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो वनस्पतिकाल , अभाषककालस्य भाषकान्तरत्वात् । अभाषकसूत्रे साद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात्, सादिसपर्यवसितस्य जघन्येनैक समयमुत्कर्षतोऽतर्मुहूर्त्तं, भाषककालस्याभाषकान्तरत्वात्, तस्य च जघन्यत उत्कर्षतश्चैतावन्मात्रत्वात्, अल्पबहुत्वसूत्र प्रतीतम् । 'अहवे' त्यादि सशरीरा.—असिद्धा अशरीरा.—सिद्धा', तत सर्वाण्यपि सशरीराशरीरसूत्राणि सिद्धासिद्धसूत्राणीव भावनीयानि ।

हिन्दी—भावार्थ

अथवा सर्वजीव दो प्रकार के होते है । जैसेकि-सभाषक और अभाषक ।

अनगार गौतम बोले—भदन्त ! सभाषक जीव सभाषकत्व रूप से कब तक रहते है ?

भगवान महावीर ने कहा—गौतम ! जघन्य एक समय, उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक ।

अनगार गौतम बोले—भदन्त ! अभाषक जीव अभाषकत्व रूप से कब तक रहते है ?

भगवान महावीर ने कहा—गौतम ! अभाषक जीव दो प्रकार के कहे गये है—सादि-अनन्त, और सादि-सान्त । इनमे

जो सादि-सान्त जीव है, उनका अवस्थितिकाल जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट अनन्तकाल तक। अर्थात् अनन्त उत्सर्पिणि-अवसर्पिणियों तक। जिस प्रकार वनस्पतिकाल अनन्त होता है, वैसे ही इन जीवो का भी अवस्थितिकाल अनन्त समझना चाहिए।

अनगार गौतम बोले—भदन्त ! भाषक जीवो का अन्तर कितने काल का होता है ?

भगवान महावीर ने कहा—गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट वनस्पतिकाल, अर्थात् अनन्तकाल तक होता है। अभाषक सादि-अनन्त जीवों का अन्तरकाल नही होता है। सादि-सान्त जीवो का अन्तरकाल जघन्य एक समय, उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त होता है। इन का अल्पबहुत्व इस प्रकार समझना चाहिए—

सब से कम भाषक जीव होते है। अभाषक जीव इन से अनन्त गुणा अधिक होते है।

अथवा सर्वजीव दो प्रकार के कहे गये है। जैसेकि—सशरीरी और अशरीरी। अशरीरी जीवो को सिद्धो के समान समझना चाहिए। अशरीरी कम है, और सशरीरी इन से अनन्तगुणा अधिक होते है।

मूल पाठ

अहवा दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता तंजहा—चरिमा चेव, अचरिमा चेव।

अथवा द्विविधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्ताः। तद्यथा—चरमाश्चैव अचरमाश्चैव। चरमो भदन्त ! चरम इति कालतः कियच्चिर भवति ?

चरिमे ण भंते ! चरिमे त्ति कालतो केवचिरं होति ?

गोयमा ! चरिमे अणादीए सपज्जवसिए । अचरिमे दुविहे—अणातीए वा अपज्जवसिए, सातीए अपज्जवसिते, दोण्ह पि णत्थि अंतरं, अप्पाबहु-सव्वत्थोवा अचरिमा, चरिमा अणंतगुणा । सेत्तं दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता ।

संस्कृत—व्याख्या

'अहवे' त्यादि, चरमाः—चरमभववन्तो भव्यविशेषा ये सेत्स्यन्ति, तद्विपरीता अचरमाः—अभव्या. सिद्धाश्च । कायस्थितिसूत्रे चरमोऽनादिसपर्यवसितोऽन्यथा चरमत्वायोगात् । अचरमसूत्रेऽचरमो द्विविधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा—अनादिको वाऽपर्यवसितः, सादिको वाऽपर्यवसितः, तत्रानाद्यपर्यवसितोऽभव्य., साद्यपर्यवसित. सिद्धः । साम्प्रतमन्तरमाह—'चरिमस्स णं भंते !' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं, भगवानाह—गौतम ! अनादिकस्य सपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरं, चरमत्वापगमे सति पुनश्चरमत्वायोगात्, अचरमस्याप्यनाद्यपर्यवसितस्य साद्यपर्यवसितस्य वा नास्त्यन्तरमविद्यमानचरमत्वात् । अल्पबहुत्वे—सर्वस्तोका अचरमाः, अभव्यानां सिद्धानामेव चाचरमत्वात्, चरमा अनन्तगुणाः, सामान्यभव्यापेक्षमेतत्, अन्यथाऽनन्तगुणत्वायोगात्, आह च मूलटीकाकारः—चरमा अनन्तगुणाः, सामान्यभव्यापेक्षमेतदिति भावनीयं, दुर्लक्ष्यः

गौतम ! चरमो अनादिकः, सपर्यवसितः । अचरमो द्विविधः—अनादिको वा अपर्यवसित., सादिकोऽपर्यवसितः । द्वयोरपि नास्त्यन्तरम् । अल्पबहुत्वम्-सर्वस्तोकाः अचरमाः, चरमा अनन्तगुणा. । समाप्त द्विविधाः सर्वजीवाः प्रज्ञप्ता. ।

सूत्राणा विषयविभाग '' इति । सम्प्रत्युपसहारमाह—'सेत्त दुविहा' ते एते द्विविधा सर्वजीवा , अत्र क्वचिद्द्विविधवक्तव्यतासग्रहणिगाथा—

सिद्धसइदियकाए जोए वेए कसायलेसा य ।
नाणुवओगाहारा भाससरीरी य चरमो य ।।१।।

(वृत्तिकारो मलयगिरि)

हिन्दी—भावार्थ

अथवा सर्वजीव दो प्रकार के कहे गए है । जेसेकि—चरम और अचरम ।

अनगार गौतम बोले—भदन्त ! चरम जीव चरमत्वरूप से कब तक रहते है ?

भगवान महावीर ने कहा—गौतम ! चरम जीव अनादि-सान्त होते है । अचरम जीव दो प्रकार के होते है, जैसेकि—अनादि-अनन्त और सादि-अनन्त । दोनो प्रकार के जीवो का अन्तरकाल नही होता है । इन जीवो का अल्पबहुत्व इस प्रकार है—

सबसे कम अचरम जीव होते है, और चरम जीव इन से अनन्त गुणा अधिक माने गए है ।

इस प्रकार सर्वजीवों की व्याख्या करने वाला प्रकरण समाप्त होता है ।



परिशिष्ट न० २

यजुर्वेद मे परमात्मा की अनन्तता—

जैनदर्शन का विश्वास है कि कर्मो का आत्यन्तिक नाश कर लेने पर जीव मुक्ति को प्राप्त कर लेता है, परमात्मा बन जाता है, और फिर सदा के लिए मुक्ति मे ही वह विराजमान रहता है, उससे कभी वापिस नही आता है। दूसरे शब्दो मे, जैनदर्शन की दृष्टि से परमात्मा सादि-अनन्त है। परमात्म-स्वरूप को जीव ने प्राप्त किया है, इस लिए वह सादि है, और परमात्मस्वरूप उस का सदा के लिए बना रहेगा, उस से कभी वह च्युत नही होगा, इसलिए वह अनन्त है। परमात्मा की इस अनन्तता को लेकर कुछ लोग जनदर्शन पर कई तरह के ऊलजलूल आक्षेप करते है। वे कहते है कि जैनदर्शन का परमात्मा कैदी है, मुक्ति की कैद मे वह सदा के लिए पडा रहता है, इसलिये वह बद्ध है, उसे स्वतन्त्र नही कहा जा सकता। लोगो का ऐसा कहना, समझना सर्वथा भ्रान्ति-पूर्ण है, क्योकि परमात्मा का अपने रूप मे स्थिर रहना, निजस्वभाव मे रमण करना, उसकी बद्धता या परतत्रता का कारण नही कहा जा सकता। बद्धता या परतत्रता का कारण परवशता होती है। स्वभाव-स्थिरता को कभी बद्धता या परतत्रता का रूप नही दिया जा सकता। यदि केवल स्वभाव-स्थिरता को ही बद्धता का प्रतीक मान लिया जायगा, फिर तो ससार का कोई भी तत्त्व स्वतन्त्र नही कहा जा सकता। क्योकि वस्तु का अपना कोई न

कोई स्वभाव अवश्य होता है, और उस मे वह अवस्थित भी रहता है। वैदिकदर्शनसम्मत परमात्मा को ही ले ले, वैदिकदर्शन के विश्वासानुसार वह जगत का निर्माण करता है। तो "जगत का निर्माण करना, परमात्मा का स्वभाव बन जाता है। वैदिकदर्शन के अनुसार जगत का निर्माण परमात्मा द्वारा ही होता है, इस लिए अपने स्वभाव मे स्थिर होने से उस जगत्कर्ता परमात्मा को भी बद्ध या परतत्र मानना पड़ेगा। पर जगत्कर्ता परमात्मा की बद्धता वैदिकदर्शन स्वय स्वीकार नही करता हैं। वस्तुस्थिति भी यही है। स्वभाव-स्थिर किसी एक तत्त्व पर बद्ध या परतत्र शब्द का प्रयोग नही हुआ करता। अत सदा के लिए मुक्ति मे विराजमान रहने के कारण जैनदर्शन के परमात्मा को भी बद्ध या परतत्र नही कहना चाहिए और नाही ऐसा समझना चाहिए।

इसके अलावा, वैदिक ग्रन्थो मे भी परमात्मा की अनन्तता को प्रकारान्तर से स्वीकार किया गया है। यजुर्वेद मे ऐसे अनेकों मत्र उपलब्ध होते है जो स्पष्ट रूप से परमात्मा की अनन्तता को अभिव्यक्त कर रहे है। पाठको की जानकारी के लिए हम यजुर्वेद के दो मत्रो को यहा उद्धृत करते है। वे मत्र ये है—

* एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुष· ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृत दिवि ।।

—यजुर्वेद अ० ३१, मत्र ३

---

* वैदिक यत्रालय, अजमेर से मुद्रित, तृतीयावृत्ति विक्रम सम्वत् १९६९, पृष्ठ १०४२

इस का भावार्थ करते हुए श्री दयानन्द सरस्वती लिखते है कि यह सब सूर्य, चन्द्र आदि लोक-लोकान्तर चराचर जितना जगत है, वह सब चित्र-विचित्र रचना के अनुमान से परमेश्वर के महत्त्व को सिद्ध कर उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय रूप से तीनो काल मे घटने बढने से भी परमेश्वर के एक-एक चतुर्थांश मे ही रहता है, किन्तु इस ईश्वर के चौथे अश को भी अवधि को नही पाता और इस ईश्वर के सामर्थ्य के तीन अश अपने अविनाशी मोक्षस्वरूप मे सदैव रहते है। इस कथन से उस ईश्वर का अनन्तपन नही बिगडता किन्तु जगत् की अपेक्षा उस का महत्त्व और जगत् का न्यूनत्व जाना जाता है।

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुष पादोऽस्येहा भवत्पुन ।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि ।।

—यजुर्वेद, अ० ३१ मत्र ४

श्री दयानन्द सरस्वती ने इस मत्र का भावार्थ इस प्रकार किया है—

यह पूर्वोक्त परमेश्वर कार्यजगत् से पृथक् तीन अश से प्रकाशित हुआ एक अश अपने सामर्थ्य से सब जगत को बार-बार उत्पन्न करता है, पीछे उस चराचर जगत् मे व्याप्त हो कर स्थित है। (पृष्ठ १०४३)

यजुर्वेद के इन मत्रो मे कहा गया है कि परमात्मा के तीन अश अपने अविनाशी मोक्षस्वरूप मे सदैव रहते है। यजुर्वेद का यह वर्णन जैनदर्शनसम्मत परमात्मा की अनन्तता के साथ स्पष्ट रूप से मेल खा रहा है। यह सत्य है कि जैनदर्शन यजुर्वेद की भाति परमात्मा के चार अश नही मानता है, और नाही वह परमात्मा का जगत्कर्तृत्व स्वीकार करता है।

किन्तु यजुर्वेद के मत्रो द्वारा प्रस्तुत मे हम इतना हो व्यक्त करना चाहते है कि यजुर्वेद मे भी परमात्मा को अनन्त माना गया है और यजुर्वेदसम्मत परमात्मा के तीन अश अविनाशी मोक्ष मे सदा रहते है, वे कभी वहा से च्युत नही हो पाते। जब यजुर्वेदसम्मत परमात्मा की अनन्तता उसे बद्ध नही होने देती, उसे स्वतत्र बनाए रखती है, तो जैनदर्शन सम्मत परमात्मा की अनन्तता उसे बद्ध या परतत्र या कैदी कैसे बना सकती है ? उत्तर स्पष्ट है—कभी नही।

गीता मे अकर्तृत्ववाद—

जैनदर्शन परमात्मा को जगत का निर्माता, भाग्यविधाता, तथा कर्मफलप्रदाता स्वीकार नही करता है। जैनदर्शन की यह मान्यता सर्वथा युक्तियुक्त और तर्कसगत है। इस की छाया हमे भगवद्गीता मे भी मिलती है । गीता के पाचवे अध्याय का पाचवा और छठा श्लोक देखिए—

न कर्तृत्व न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभु ।
न कर्मफलसयोग, स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥

अर्थात्—ईश्वर जगत का निर्माता नही है, जीवो के कर्मो की रचना नही करता है और नाही वह कर्मफल का प्रदाता है। प्रकृति के स्वभाव से ही यह सब बातें हो रही है।

नादत्ते कस्यचित्पाप, न चैव सुकृत विभुः।
अज्ञानेनावृत ज्ञान, तेन मुह्यन्ति जन्तव. ॥

अर्थात्—ईश्वर किसो को पाप और पुण्य नही लगाता है, ज्ञान अज्ञान से आवृत हो रहा है, इसी कारण से जीव मोह को प्राप्त हो रहे है।

——०——